S/8A

42

बरसानी गोपिका

LIBRARY
No. 878A
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

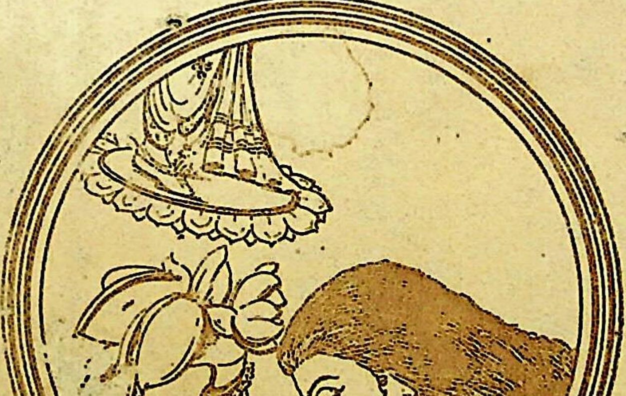

PRESENTED

कृष्णा

श्री राधिका ग्रन्थ माला

तृतीय पुष्प

★

श्री बृजचन्द्र चकोरी मीरा

पृष्ठ ... ४००

मूल्य— ५)

मिलने का पता—

सेक्रेटरी—
श्री राधिका लाइब्रेरी
व प्रकाशन ट्रस्ट
श्री राधा भवन
वृन्दावन।

LIBRARY
No. 878 A
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

I.

PRESENTED

LIBRARY
No. 878A
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

विरहिणी गोपिका

कृष्णा

818 A

प्रकाशक:—
राय गिरीन्द्रनारायण
श्री राधा भवन, वृन्दावन

प्रथम संस्करण
सन् १९५१
मूल्य ३)

मुद्रक:—
पं० कुंवर बहादुर शर्मा
भारतीय प्रेस
पटना।

समर्पण

अपने गुरू महाराज श्री बांके बिहारी जी

तथा

परम गुरुदेव गिरधर नागर

दीवानी श्री श्री मीराबाई

के

कर कमलों में

दासी कृष्णा

मेरा नाम बूझ तुम लीजो
मैं हूं विरह दिवानी ॥
रात दिवस कल नाहिं परत है
जैसे मीन बिन पानी ॥

श्री मीराबाई

भई हुँ दिवानी तन सुधि भूली ।
कोई न जानी म्हाँरी बात ॥
'मीरा कहै बीती सोई जानै ।
मरण जीवन जिन हाथ ॥

'श्री राधाकृष्ण'

वक्तव्य

गुरू म्हारे दीन दयाल हीरा रा पारखी।
दीनो म्हांने ज्ञान बताये संगति कर साधु की ॥

श्री मीरा जी के इस उपदेश से प्रेरा-मीरा जी के उपासक जिस सत्सङ्ग में विराजते श्री धाम वृन्दावन के उस श्री राधा भवन में मैं पहुंचा। बेटीं कृष्णा का करुणापूर्ण संकीर्तन सुन प्रार्थना की कुछ उपदेश करो-उत्तर में उन्होंने उंगली से दीवार पर संकेत कर दिया-जहां लिखा था—

(१) तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुनाम् ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

(२) अभिमानं सुरापानं, गौरवं नर्कं रौरवम् ।
प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, त्रयंत्यक्त्वा सुखं भवेत् ॥

(३) *O burn ! that burns to heal*
O burn! thou pleasant wound.

(४) इल्मो बसवु करीं ओ यार। इक्को अलिफ़ तुझे दरकार।
मैंने विनय की कृपा कर विस्तृत रूप से इन भावों की व्याख्या कर दें-उत्तर में कुछ विचार के बाद उन्होंने अपने परं गुरु श्री मीराबाई की कृपा से प्राप्त-'विरहिनी गोपिका' मुझे दी। उनके आग्रह को 'कि उनके शरीरांत से पहिले यह पुस्तक न छपे, अति विनय के पश्चात् इस आग्रह को तुड़वा कर प्रकाशन की आज्ञा प्राप्त की। उन्होंने कहा "कि यदि यह मुझसी पतिताओं के हाथ ही पड़े तो अच्छा है। हम साधन रहित अबलाओं का कृष्ण-दर्शन-लक्ष प्राप्त करने का साधन एक मात्र "रो रो कृष्ण को पुकारना है।"

मेरी माता श्री श्री रासेश्वरी जी का यही उपदेश है—

हा नाथ ! हा रमण श्रेष्ठ ! क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया में सखे दर्शय सन्निधिम् ॥

और इस अश्रु की प्राप्ति का एक यही मार्ग है कि यदि किसी के जीवन पर किसी बहकी प्रेम विह्वला गोपी के अंचल की छाया पड़ जावे तो वह विरह कण पाकर निहाल हो जाये। बिना गोपी के मिले गोपी भाव दुर्लभ है और यह महान कृपा संत चरण-रज प्राप्त पश्चात् होती है। सो ही अंचल पसार कहती मुझे मस्तक पर अपनी चरण-रज धारण करने को दो और मुझ भिखारिणी की झोली श्री राधा कृष्ण-विरह में निकले तप्त अश्रु से भर दो……"

इतना कहती कहती वह मौन होगईं

यह पुस्तक क्या है ?

विरही दावानल से उद्भूत बिखरी कुछ चिनगारियां।
नित्य प्रिया—प्रियतम के लिये आर्त भरी पुकार ॥
गोपी के कलेजे की टीस आह तड़प……………… ॥
श्री राधा भवन की पुष्प वाटिका के बिखरे सुमन ॥
संतों की सर्वस्व श्री मीरा जी के उपदेश ॥
राधा कृष्ण प्रेम के अनुपम विचित्र रहस्य का परोक्ष व अपरोक्ष वर्णन।
प्रेम बाण चुभे हुए हृदय की वेदना का सजीव चित्र ॥
मेरे तमोलय श्यामघन से हृदय में विद्युत सा आलोक।

इस का विषय—व्यक्ति गत होते हुये भी सर्वजन प्रिय व कल्याणकारी पथ-प्रदर्शक है। श्री वृन्दावन के मधुरतम, मथुरा के मधुरतर, द्वारिका के मधुर कृष्ण वैभव प्रकाश, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा के स्वरूप त्रय तथा सत, आनंद गुण की—जीव—गुरु—भगवान के मिलन व विरह की विलक्षण झांकी है।

"वियोगिनीनामपि पद्धतिं वो नो योगिनो गन्तुमपि क्षम्यते" का प्रत्यक्ष अनुभव है।

"योग योग हम नाहीं उद्धव! से लेकर 'योग कहां राखें रोम रोम श्याम हैं' तक रपटीले पथ पर निर्भय चाल है, एक साहसी छलांग है, एक उछाल है इस पार से क्षण में उस पार। इस उपदेश की यही परिपाटी है। सीढ़ियों पर निधड़क सरपट चाल'''''न गिरने न रपटने का डर।

दिव्य देश, जहां पंचम परं पुरषार्थ रूप श्री राधाकृष्ण चरणारविन्द विराजते हैं। उसकी उपासना—चलने को एक प्रेम विभोर बालिका का आह्वान। उपदेश कर नहीं किन्तु अनुकरण कर। सबला के पुष्प का निर्बल अबला की चाह लता से स्फुट होना। मेरे शांति मय जीवन में एक बवंडर का उत्थान। अशान्ति की मांग के लिये मेरा आकुल हो उठना। दर्द की मांग। मीठी टीस का संचार। "मैं तो बावरी भई री' मीरा जी की पद पद पर न टलने वाली झांकी। मुझ पर तो यह पढ़ असर पड़ा अपनी आप जाने। वेग से बहती मेरी तरणी को विचित्र कर्णधार नित्य देश का मिल गया—केवल शब्द द्वारा उपदेश मात्र नहीं—किंतु प्यारे की मुस्काती पथ प्रदर्शिका का निमंत्रण है। मुझे वृन्दावन आ हो पता लगा और पूर्ण विश्वास हो गया, कि प्रसिद्ध किम्वदन्ति कि वृन्दावन में यमुना पुलिन पर भक्ति स्फुरित नेत्रों से आज भी श्यामा श्याम के दर्शन होते हैं। उस अनुभव को प्राप्त करने का साधन 'रुरुदः सुस्वरं कृष्ण दर्शन लालसा' है। कलि काल हत जीवों के कल्याण का एक निर्भय साधन भगवान के लिये रोना ही है। विरहिनी गोपिका ने उसी पथ को मुझे दिखला—गीता व रासपंचाध्यायी का सार पथ प्रदर्शक रूप से दे दिये। मेरी जीवन यात्रा सफल हुई। मैं कृतार्थ हो गया। यदि इस उन्माद भरे विरहिनी के

गीत को गा सका—रो रो श्वासि कृष्ण की पुकार लगा सका तो इस त्रैताप के पिंजड़े से उड़कर मेरा जीव पक्षी अवश्य शरीरांत पर उनके नित्य वृन्दावन की सारिका बनेगा मेरा अटल विश्वास हो गया है और इस विश्वास का मूल यही विरहिनी गोपिका है।

मैंने सुना मात्र था कि थ्योजिफिकल सुसाइटी के स्तम्भ स्वरूप श्री पूज्य राय बहादुर पंड्या श्री वैजनाथ जी इस ८४ वर्ष की अवस्था में इस विरहिनी गोपिका का गीता की भांति एकांत में पाठ करते हैं मेरी इच्छा हुई कि उनके नये उपदेश को सुनूं। श्री राधा भवन सत्संग में उनसे उपदेश के लिये जब मैंने प्रार्थना की तब उन्होंने प्रभु की ओर आर्द्र दृष्टि कर हृदय से रो उठे और बोले:—

"भैया! कृष्ण नहीं मिला। क्या करूं? कहाँ जाऊं? तुम सब चरण रज दो तो अवश्य मिलेंगे"। फिर रोना और मौन चलते समय बोले "विरहिनी गोपिका" मुझे दे दो।

यह है परिचय इस श्री राधिका ग्रंथावली के द्वितीय पुष्प का—तीसरा पुष्प "वृन्दावन चन्द्र चकोरी मीरा, 'जैसा नाम वैसे गुण' इसी की तरह श्रीकृष्णाजी की लेखनी द्वारा निकलने वाला है जिसमें मीरा जी के १५० गुजराती पद व भक्तिसिद्धांतों का श्री मीराजी की जीवनी सहित विस्तृत वर्णन है।

गिरीन्द्रनारायण

श्री राधा भवन, वृन्दावन।

श्री गीता जयन्ती मार्गशीर्ष सं०२००७

प्रथम भाग

श्याम ! दर्शन दो एक बार !

१—मेरी सूनी पड़ी रे सितार !— १
२—बलिहारी तेरी श्रद्धा— १५
३—पपीहे बता पी कहां !— ४८
४—प्यारे की लगन— ५६
५—चतुरानन तेरी चूक— ७१
६—प्यारे के प्यारों की खोज में— ८१
७—तेरे दर्शन मेरा जीवन— ८६
८—शाम आई श्याम न आया— ९६

द्वितीय भाग

तेरी द्वारका नगरी में

१—कृष्ण है—! मिलता है—! मिला है—! १०५
२—हे श्री राधे—! ११७
३—बस इतना कह देना तेरी विरहिनी — १२७
४—वही मरने की बात— १३७
५—प्यारे तेरी याद आई — १४७
६—वस्तु न चाहिये बता दो वस्तु लेने हार !— १५७
७—न मे भक्तः प्रणश्यति—! १६७
८—न उस पार, न इस पार— १७५

तृतीय भाग

फिर श्रीधाम !

१—फिर श्री धाम !— १८७
२—उपसंहार— १६९

—जय श्री राधांकृष्ण—

कहानी है—तो भूमिका भी चाहिये—

'राधा कृष्ण प्रेम'—विरहिनी' की भूमिका है—'एक आह !' उसका जीवन है 'उनकी चाह'—अंत है—आंसू का प्रवाह—!

आंसू—आह से बींध—चाह के सूत्र में गूंध लेना—माला बन जायेगी—

यह है विरहिनी की कहानी—

स्पष्ट कहूँ तो केवल इतनी—एक पुकार—

'श्यामा–श्याम–दर्शन दो एक बार'—

मैं भूल गई—यह ब्रज की बात है—

वृन्दावन के बनवासी—स्वामी को ऐसी ही अच्युत माला बना पहनाते हैं—

क्या पहनाओगी—

कोई आंसू—परसादी पुष्प—माला का मिले—तो दे डालना आंचल पसारे बैठी है—तुम्हारी दासी

कृष्णा

श्री राधा भवन सत्संग—श्री वृन्दावन

गीता जयंती

संवत् २००७

प्रथम भाग

श्याम-दर्शन दो एक बार?

मेरी सूनी पड़ी रे सितार ?

प्रिय बहन !

उपदेश तो वह करे, जिसे प्यारा मिल गया हो। उनकी आज्ञा हो।

मुझ विरहिनी भिखारिनी को तो रोना और रुलाना ही आता है।

यह दोनों सरोवर भी सूख चले और हृदय-कमल कुम्हलाने लगा। यदि वे दीनानाथ दया से प्रेरे इधर आगये, और यह जीवित न रहा, तब स्वामी की क्या भेंट करूंगी !

सो तुम्हारे सामने रख दिया। यदि इन मनोहर कमल नेत्रों से दो बूंद बरसा दोगी, यह सजीव हो जायेगा। अपना भाग्य सराहूँगी—

कृष्णा

जय श्री राधा कृष्ण

[१]

दुखिया की आह उसका कलेजा छेद गई। पथिक रास्ता चलना भूल गया। आकाश की ओर देख तारों से मूक प्रार्थना करने लगा। बेचारे नाविक की तरणी भंवर में जा पड़ी। पतवार हाथों से छूट गई। हृदय में करुणाधार का ध्यान लगा वह बैठ गया।

\+ + + + +

जीवन एक विकट पहेली है। और वह भी 'प्यारे की विरहिनी' की। बड़ी करुण कहानी है। जिसने प्यारे को प्यार करने की सोची है, जिसने चितचोर की मुसकान चुराने की टेक बांधी है, उसने निरंतर का दुख मोल लिया है।

आशा-निराशा के समुद्र में उसे सदा गोते लगाना है। हर्ष-शोक में सम् बरतना है। तड़पना है, सिसकना है और मुंह पर 'आह' न लाना है। कठोर वाक् सहन करना है और चेहरे पर बल न आना है। अप्रसन्नता का भाव कदापि प्रकट न करना है। संसार क्या जाने इस शुद्ध सात्विक भाव का रहस्य ....कठिन है, महा कठिन है सखि ! 'श्याम सुन्दर की प्रीति'......

\+ + + + +

और फिर किए जाओ, ऐसे ही इंतज़ार। इस प्रतीक्षा की अवधि नहीं। जिस संत से पूछो, बस यही एक मात्र राह बताता; और ठीक भी है। जब प्रेमाभक्ति की वह भिखारिणी पथिका आधी रात में व्याकुल हो करवटें बदलती तारे गिनती, चांद के चारों ओर मंडराती चकोरी उसे यही कहती सुनाई पड़ती थी:—

'कितने निकट फिर भी कितने दूर ! स्वामी कैसे पाऊं—केवल जब तुम ही कृपा करो तो मिलो !'

इतना सुन वह चौंक उठी। प्रियतम के मिलन का मन्त्र मालूम हो गया। 'प्यारा कृपा करें' तभी मिले।

फिर निराशा ने आन घेरा, जब विचार उठा 'कृपा' प्राप्त करने का कोई साधन नहीं। बल से वे हाथ नहीं आते। जप-तप-दान से वे रीझते नहीं। सब ही साधन से वे असाध्य हैं। तो फिर क्या करूं ? किसी ने मानो कान में मंत्र फूंक दिया 'निर्बल हो बैठ जा !'। पर फिर भी वे न आये। पपीहे की पुकार ने भेद बताया। उस अन्धयारी रात में उस मधुर विरह की ध्वनि सुन "मीरा" का राग उसे याद आ गया और वह लगी गाने:

मीरा के जीवन की सूनी पड़ी रे सितार !
इतनी गहरी नींद में सो गई तारों की झंकार,
मेरी सखी का गीत अधूरा,
कौन करेगा रे अब पूरा।
गिरधर नागर क्या न सुनोगे,
"पीउ पीउ" की पुकार ॥

श्याम सुन्दर" ......!

\+ + + + +

सावन की श्याम घटा में; "उनकी खोज"—
आँखों से गङ्गा-यमुना बहती। न सङ्ग न साथी। उस पीताम्बरधारी

साधु का आंचल जा उसने पकड़ लिया। और लगी उसको आंसुओं से भिगोने ! दर्द भरे स्वर से वह गाने लगी, मीरा का राग:—

'मत जा ! मत जा ! जोगी, मत जा !
पांव पड़ूं मैं चेरी तेरी !
प्रेम भक्ति का पैंडो ही न्यारो,
हम को गैल बता जा।
अगर चंदन की चिता बनाई,
अपने हाथ जला जा !
मत जा, मत............
जल बल भई भस्म की ढेरी,
अपने अङ्ग लगा जा !
मत जा, मत ....

'बस ! बेटी बस !!' स्वामी जी का दिल भर आया और वह राग समाप्त भी न होने पाया था कि वे उसके सिर पर हाथ रख बोले—

धीरज धरो ! मेरे स्वामी करुणा के सागर हैं। दया के भण्डार हैं। अवश्य मिलेंगे बेटी ! जब मुझ ऐसे कठोर हृदय को तुम्हारी व्याकुलता देख प्रेम उमड़ आया, तो भला उन माखन से कोमल चित वाले की क्या दशा हुई होगी ! देखो! शांति, शांति, शांति।

\+ + + + +

सावन की बदरी छाई है। नन्हीं २ बूंदों की बौछार हो रही है। ऐसे में वह भी उन्मत्त सी सेवा कुंज की ओर निकल आई। रात अन्धयारी थी। पर उसको क्या डर ! प्रभु का विरह कैसा बल रखता है, विरही ही जानता है। वह थकी थी, भूखी थी, पर मिलन की व्याकुलता ने सब ओर से उसका चित्त हर रखा था। फिर कैसी भूख ? कैसी थकावट ? किसका ध्यान !

ज्यों ही कुंज गली में वह घुसी किसी की दर्द भरी वह रागिनी उसके कानों में पड़ी:—

मेरी अटरिया है सूनी, मोहन नहीं आये, मोहन नहीं आये !
विरह की पीर भई दूनी, मोहन नहीं आये……………?
वर्षा ऋतु सावन का महीना,
माधो बिना कैसा जीना !
आवो जी आवो जी !
राह में नयन बिछाये, मोहन नहीं आये, मोहन नहीं आये !

वह आगे न गा सकी । उसका कण्ठ भर आया । हृदय कम्पित हो उठा……इधर हमारी 'विरहिनी' अजाङ्गना का गीत सुन मूर्छित हो गिर पड़ीं । उसके मुखारविन्द से केवल यही सुनाई पड़ा 'मो…ह…न ! क…हां…?'

\+ + + + +

"धम" की आवाज उस गोपिका के कान में उस शान्त, अन्धयारी में प्रवेश कर गई । आंसू पोंछती वह बाहर निकली । देखा एक बालिका मछली की तरह तड़प २ कह रही:– 'मोहन कहां ! मोहन कहां !'

उससे वह दृश्य न देखा गया । वह झुकी और उस 'विरहिनी' को जंघा पर लिटा, आंसू पोंछ, हवा करने लगी । और कहने लगी—

प्यारी ! अधीर न हो ! प्यारोजू के धाम में सखि ! ऐसी व्याकुलता क्यों ? और फिर सेवा कुंज के निकट । विश्वास करो वे मिलेंगे, वे मिलेंगे, वे………' । अभी बात अधूरी ही थी कि

उसका भी कण्ठ भर आया। टप-टप आंसू गिरने लगे। वही पुरानी बात:- 'वह जो बन के आये थे तबीब खुद मरीज बन गए।'

विरहिनी आंख बिना खोले, गोपिका के गले में हाथ डाल एक मन्द मुस्कान हँस बोली;

'प्यारे! तुम आगए। मेरे केवल मेरे……तुम आगए। श्याम तुम आगए! आओ मुझे कण्ठ से लगा लो! खूब आलिंगन करो, कर लेने दो ·· · ! हैं पर यह क्या तुम रोते क्यों हो?'

उसने आंख खोल दीं। गर्म आह खींची। हृदय कम्पित हो उठा और लगी विलाप करने। दुष्ट आंख? तुम क्यों खुलीं और मेरे रस को भंग किया। हैं! क्या श्याम न थे? मेरे जीवन प्राण न थे? क्या केवल स्वप्न ही था। निर्दई प्राण! उस स्वप्न ही में क्यों न उनके चरणों पर उपहार बन निकल गये?

यह संसार! माया का संसार! यह घोर घटा। यह कुंज! आग लगे इनमें। बिन श्याम क्या करूं मैं इनको! पर नहीं, नहीं! प्यारे के रमण का स्थल है। यह सभी प्यारे के मनोरंजन के लिये सेवा में उपस्थित रहते हैं। तुम धन्य हो कुब्जो! श्याम घटा तेरा सोहाग सदा बना रहे! प्यारे को प्रसन्न करने को उमड़ उमड़ आती है।

\+ + + + +

बहन! जागो! आओ अंदर चलो। तुम थकी हो। भीग भी गई हो। विश्राम करो। वृन्दावन में इतने कठोर तप की आवश्य-कता नहीं। भला हुआ तुम आगईं। प्यारे को खोजने आगईं।

बलिहारी ! ओ मेरे जीवन की साथो ! इस भारी आयु रूपी घड़ी को हलका करने आ गईं। तुम आगईं। विरह की घड़ियों का रस बढ़ाने को आ गईं। धन्य, धन्य ! तुम आगईं।

आओ गले तो लग जाओ। विरहिन के मिलन की शोभा विचित्र रसमयी है। बढ़ता विरह प्यारे के मिलन में प्रतिबंधक सब ही नाश कर देता है।

प्यारा न मिला। उनकी मर्जी। हमारा कुछ ज़ोर नहीं। हम तो उनकी भोग्य वस्तु हैं। प्यारा जब भी स्वीकार करे। सदा ही आसन लगाये बैठा रहना है।

तुम आगईं। प्यारे की विरहिनी। प्यारे की खोजी। मेरे जीवन के साथी तुम आगईं। अनाथों के नाथ, अनाश्रितों के आश्रय की तलाश में तुम आ गईं।

खूब आईं। अब तो अवश्य इन नेत्रों से जल की बाढ़ उमड़ेगी। न उमड़ेगी तो प्यारे की नाव इधर कैसे आन लगेगी। गहरे अगाध जल में उन्हें आसानी होगी इधर आने में ! प्यारी सहेली खूब रोओ ! प्यारे की नय्या इन घाटों पर आन लगेगी। आसानी से। कठिनाई न होगी।

हैं ! हैं ! यह क्या ? यह कौन ?

श्याम ! श्याम..................

नहीं ! नहीं ! बहन-केवल भ्रम है।

श्याम घटा है। कितनी दूर है। बहुत दूर—

\+ + + + +

फिर क्या करूं ? वह कैसे आयेंगे ? प्यारे का वियोग कैसे सहूं ? बताओ तुम्हारे बलि जाऊं बताओ। ब्रज में रह तुमने उनके मिलने का रहस्य अवश्य जाना होगा। चुप क्यों हो ..? बोलो प्यारी बोलो ... !

(२)

रज में वे लोटती हैं। यमुना मय्या का वह दूध पीती हैं। लताओं से वे गले मिलती हैं। पक्षियों को वह अपनी विरह कथा सुनाती हैं। ब्रज की बालायें बड़ी ही भोली होती हैं।

निस्वार्थ प्रेम की यही पहचान है। अनन्यता का यही निशान है। यह भोलापन। और हो क्यों न ! श्रद्धा के बल पर, वे प्यारे को मिलने, निर्बल अपने को जान, चलती हैं। ब्रज के किस कण ने न जाने प्यारे का चरण परसा हो ! चलो इन कण कण को नमस्कार करती चलें। इस नमस्कार की सुगन्धि उनके दीन हृदय-कमल को सुगंधि से मिल ब्रज के वातावरण को कैसा चेतन प्रकाशमय करती है। और करे भी क्यों न !

प्रकाश बिना प्यारा कैसे इधर आयेगा ! और अन्धयारे जीवन को आलोकित करेगा। स्वयं प्रकाश हैं, चिदानंद स्वरूप हैं। माधुर्य का स्रोत हैं, ऐश्वर्य का भंडार हैं !

हुआ करें ? भले योगी, ऋषि, महात्मा, तपीश्वर बड़ी बड़ी स्तुति कर उनको आकाश में चढ़ाया करें ! लम्बी लम्बी दण्डवत कर उनके दिमाग़ को हवा में उड़ाया करें ! करें ! हमें क्या ?

"यशोदा का लाला, दाऊ जी का भैय्या, कन्हैया" हमें यही नाम प्रिय हैं। नन्द को छोरा जब हमारी गोबर की डलिया सहारा दे

उठाता है, छलकते गोबर के छींटे उसके लजाते मुखारविंद पर पड़ते हैं। वह मौन शोभा कोई वर्णन तो करे ! जब बंसी बजाता गऊ के खुरों से उड़ी रज अलकावली पर धारण करता आता है, उस माधुर्य का कोई चितेरा चित्र तो खींचे।

जब कन्हैया चन्द्र के समान अपने ग्वाल बाल रूपी तारागण में विराज उनके मुख से झपट कर कौर खा लेते हैं, उस दृश्य को कोई वर्णन तो करे !

जब अपने सखा बंदरों को कन्हैया माखन चुरा चुरा लुटाता है। उस अद्भुत प्यारे की लीला को बिना कलेजा कंपित हुए कोई कहे तो सही !

लीलाधारी की लीला रसमय है ! रस पूर्ण है ! उस रस पान की अधिकारिणी केवल भोली गोपिकायें ही हैं।

ऐसी ही एक गोपिका की गोद में आज भाग्य से विरहिनी आन पड़ी थी। शांत होने पर श्याम प्यारी ब्रजाङ्गना ने स्वाभाविक प्रश्न इस नई वृन्दावन यात्री से पूछा:—

"सखि! तुम कौन हो ?"

(२)

"मैं कौन हूं ?" तुम पूछती हो—

कोई योगीराज होते तो उत्तर में 'शिवोऽहं व अहं ब्रह्माऽस्मि' का पाठ शुरू कर देते। अपने ज्ञानानंद, चिदानंद, आनंदमय, स्वयं प्रकाश, कूटस्थ, नित्य, अप्राकृतिक आत्मस्वरूप पर लम्बी व्याख्या

देते। जो न वे ब्रह्मज्ञानी स्वयं अनुभव किए होते और भोली गोपिका के सिर में दर्द पैदा कर "अज्ञानी–अनाधिकारिणी" का शाप दे कमण्डल ले व लंगोटी संभाल रास्ते लेते।

पर यह तो एक भोली गोपिका का सान्त्वना देते स्वर में एक कृष्ण-विरहिनी से स्वाभाविक प्रश्न था।

विरहिनी कुछ ध्यान कर बोली—

बहन! तुम ही न बतादो मैं कौन हूं? जिसको आज तक किसी ने न अपनाया हो! जिसको दुख तक ने दुराया हो सुख का तो कहना ही क्या! वह अभागिनी फिर अपना क्या मोल बताये। और बिन मोल की वस्तु की सत्ता ही क्या है। फिर कैसे कहूं 'मैं कुछ हू"। किसी की गोद में बैठी होती, यदि किसी ने यह ढलकते आंसू पोंछे होते तो मैं भी 'कुछ हू" अनुभव करती। जिसकी कौड़ी बराबर कदर नहीं; वह क्या बताये कौन है?

फिर बहन! 'मैं हू" यह मेरा कहना तो किसी तरह भी नहीं बनता। यदि तुम कहो क्यों? तो सुनो!

बेनिशान की खोज में निशान रख भी कोई चलता है? खापते को ढूँढने निकलने पर क्या कोई लेश मात्र अपना पता रख सकता है? फिर कहां से अहंकार लाऊं, क्या बताऊं, कौन हूं.........

श्याम! श्याम! श्याम! कहां हो......? यह कहती कहती विरहिनी मूर्च्छित हो गोपिका की गोद में फिर गिर पड़ी। आंखों ने दो आंसू ढलका प्रश्न का उत्तर दे दिया।

(४)

वृक्षों को आलिंगन करती, लताओं के कान में कहती 'मैं कौन हूँ ?' उन्मत्त सी एक बालिका यमुना तट पर आन निकली।

अरुणोदय के समय ! यमुना मैया की गोद में खेलती सूर्य की किरणें विरहिनी की केशावली से आ उलझीं। वह सुनहली अलकावली प्रकाश से जीवित हो उठी। माधुर्य की झर-झर वर्षा होने लगी। उसके दोनों नेत्र बन्द थे। बालू पर वह लेटी थी। हाथ का तकिया बनाया। पास कुछ न था। और होता भी क्या ? कृष्ण की खोज, और वह भी प्यारी जी के धाम में ! फिर कौन संग्रह से अपनी खोज को कलंकित करने लगा। यदि संसार का आश्रय लेना है, तो प्यारे की खोज में जाना क्यों। काम व राम एक जगह कब ?' सब ही इस पथ के पथिक जानते हैं। जब वृन्दावन आते हैं, संसार की होली बाल कर आते हैं। फिर त्रिगुण रूपी कूड़ा उनकी कृष्ण-विरह रूपी अग्नि में ठहरे भी कैसे ?

असार को असार अनुभव कर तब सार की खोज में सच्चा विरही निकलता है। सुनहले संसार के गृह, दारा, सुत, मान, प्रतिष्ठा रूपी खिलौनों में खेलते, असृत रूप असंसारी प्रभु के दर्शन रूपी छटा का सुख लेते तो किसी जन को न देखा। कहते तो बहुतों को सुना, हां ! मोह में ग्रस्त हो कहते सुना है 'हमें साक्षात्कार है।' कितनों को तो चमत्कार दिखाते भी देखा। संसार में गुरु बनते देखा। पर प्रभु का अनन्य भक्त, मेरे वासुदेव को सर्वं इति अनुभव करते न पाया। ठीक ही है, ऐसा महात्मा दुर्लभ है।

जिसको होश है--कैसे मानूं--उसने उस मदहोश करने वाले का दर्शन किया ? जिसकी बुद्धि दुरुस्त है--कैसे मान लूं--उसने पागल

बना देने वाले मनोहर को देखा है ? इस त्रिगुण माया की किसी वस्तु में जिसकी स्पृहा बाकी है—कैसे विश्वास हो उसने माया से परे, माया को नष्ट करने वाले मेरे स्वामी को देखा है ?

'रवि व रजनी कभी न देखी न सुनी एक ठाम'.........

कितने उपदेश वह न सुन चुकी थी। कितने तीर्थ न छान चुकी थी। कितने गुरुओं से कान में मंत्र न फुंकवा चुकी थी। इसी लिये कि कोई उसको प्यारे की राह बतादे। परदेश में भ्रमती उस बाला को उसके घर पहुंचा दे।

सब ही तो निष्फल हुआ था। जीवन के १८ वर्ष बीत चुके थे। पर स्वामी का पता न चला था। सब ही जगह तो उसे खोजा था। घर में वह न मिला था, तो अब वह बन में उसे खोजने आ निकली थी। सुना था, वृन्दावन कल्पतरु है। माया की यहां परछाईं नहीं। काल का यहां प्रवेश नहीं। कर्म की यहां गति नहीं। लता व वृक्ष सब ही वो यहां के चेतन हैं। और फिर श्री रास रासेश्वरी तो करुणा की सागर, निर्हैतुक दया की भण्डार है।' यह वह सुन चुकी थी। विचार स्वतः उत्पन्न हो गया था। जहां श्री राधा वहां श्याम। जहां गोपी, तहां गोपीनाथ। फिर तो मेरा प्यारा मुझे अवश्य ही रासस्थली में मिलेगा। यह दृढ़ भाव ले वह कुंज गली में निकल आई थी। वृजाङ्गना से भेंट हुई थी। उसने प्रश्न किया था 'तू कौन ?' कैसे कहती अपने स्वामी की दासी; अपने प्यारे की खोजी; अपने पिता की पुत्री; अपने ठाकुर की पुजारिन हूँ। यदि कहती तः प्रमाण मांगने पर अपने हृदय-मन्दिर को दिखाती। उसे सूना देख कर क्या मेरी सहेली हंस न देती। 'हैं यह तो सूना है। फिर बिना ठाकुर तू कैसी पुजारिन ? क्या पगली है।' उस भोली की ताड़ना मैं न सह सकती। सो न बता सकती 'मैं कौन' पर बताऊंगी जरूर—उन चरण-कमलों

को दृढता से पकड़ आंखों से प्रश्न करूंगी। वे पूछेंगे 'प्यारी! हां प्रश्न करो! मैं उत्तर दूंगी।' तब मैं कहूँगी, 'स्वामी! मैं कौन?' वह लजायेंगे। मैं हठ करूंगी। फिर पूछूंगी। आंखों से उनके आंसू निकल आयेंगे। मेरी विरह कहानी उनके सामने मूर्तिमान आन खड़ी होगी। वह मूक हो जायेंगे। मैं ज़िद करूंगी। लजाते, नीची निगाह करते वह केवल एक शब्द कह मूर्छित हो जायेंगे। कलेजा हो तो सुनो-बताऊं वह क्या शब्द होगा? हां वह शब्द ऐसा ही है, जिसके सुनने पर जीव जीवित नहीं रह सकता, भिखारी खोजी के पास उसका मोल देने को नहीं होता। प्रभु की दयालुता, उनकी महानता, भक्त-वत्सलता देख उसके पास अपने स्वामी को उपहार देने को कुछ नहीं रहता। सकुचाता वह प्राण-पखेरू भेंट कर सदा के लिये ही उनके चरणों में पहुंच जाता है।

तुम अधीर हो पूछती हो, वह क्या शब्द है? अधीरता काम न देगी। परम रहस्य इस तरह जल्दी नहीं कहा जाता। अच्छा दुखी न हो। भक्ति का सबको अधिकार है। जाति कुजाति,पशु-पक्षि सबको। ऐसा न होता तो गजेन्द्र की गति कैसे होती? जटायु कैसे परम पद पहुंचता?.......

हां! सुनो बताती हूं, वह क्या कहेंगे। बस एक बार ही कहेंगे। दूसरी बार साहस करने की त्रिलोकपति को भी सामर्थ्य नहीं। ऐसी ही दास के दासत्व की महिमा है।

हां! सुनों, तीसरी बार मेरे प्रश्न "मैं कौन" के उत्तर में विह्वल हो कांपते, आंसू बहाते सिंहासन छोड़ मुझे आलिंगन करते तन की सुधि-बुधि बिसरा वह कहेंगे, 'मेरी—केवल मे.... ..'

वह मूर्छित हो मेरी गोद में गिर पड़ेंगे। जब आंख खुलेगी और मुझे देखेंगे, मेरी मुस्कान में अपना चित्र छिपटा देख, वाणी से हाल पूछने को उत्सुक हो उसे मूक पा नब्ज़ टटोलेंगे। उसे गति शून्य देख स्वामी कहेंगे—कौन ?

सामने एक विकसित पुष्प पड़ा देख वे उसे आंखों से लगा वक्षःस्थल पर धारण करेंगे। कोई गोपिका देख पूछेगी 'यह क्या ?' वे कहेंगे 'विरहिनी का प्रेम उपहार—

\+ + + + +

ब्रज के पक्षि भी देव वाणी जानते, तभी तो मयूर 'जय जय', कोयल 'क्वासि कृष्ण' पपीहा 'पी-पी', मैंना 'राधा-राधा' कह विचरती हैं। सब उस वाणी को न सुन पाते न समझ पाते। विरहिनी बन जाओ तो वह संग देने को आन उपस्थित होंगे। बिलकुल सत्य कहती हूं।

देखो न ! सामने पपीही विरहिनी से पूछ रही है, 'पी कहां—पी कहां ?' और उसकी अलकावली को लता जान उसमें पी-पी पुकार खोजने लगी। नहीं,नहीं! वहां भी शांति न पा वहीं वे बेसुध पड़ विरहिनी की परिक्रमा लगाने लगी। यदि उस पक्षि को समझ न होती तो उसे कैसे पता चला कि विरहिनी के हृदय-मन्दिर में उसका, नहीं-नहीं सबका पी छिपा बैठा है। यह न मालूम होता तो परिक्रमा क्यों लगाती।

'तीन वर्ष बाद' नहीं—नहीं प्यारे ! इतने दिन तक बिना दर्शन कैसे जीऊंगी। स्वप्न देखती विरहिनी के मुख से अस्पष्ट शब्द निकल पड़े ! '.....

वह जागी। चेहरे पर विचित्र सोच व दुःख की मिश्रित रेखायें दीख पड़ीं। अपने आप से वह बोली, एक पल जब स्वामी बिना जीना कठिन तो तीन·········

किसी ने पीछे से कन्धे पर हाथ रक्खा। उसने सिर फेरा, सेवाकुंज वाले स्वामी जी को फिर सामने देख प्रणाम की। वे बोले— बेटी! चिरंजीव! अब तो मनोकामना पूर्ण हो गई?

विरहिनी—भड़कती आग में घृत छोड़ने से क्या ज्वाला शान्त होती है?

स्वामी जी—बच्ची! लीलाधारी श्याम को आँख मिचौनी भाती है। उनके अनन्य भक्त को न देवी-देवता, न गृह-कुटुम्ब, न साधन अनुष्ठान किसी का जब सहारा नहीं रहता, तो प्रभु अपने सदा रहने वाले साक्षात्कार के प्रतिबन्धक प्रारब्ध को, विरह-अग्नि बार-बार धधका-धधका, काट देते हैं। कहीं अपने प्यारे का दिल टूट न जाये, आशा निराशा में परिणित न हो जाये। कर्तव्य त्याग न बैठे, प्रमाद न आन घेरे, इसीलिये प्रोत्साह देने को अपने दर्शन कभी स्वप्न में, कभी छाया बन, कभी अर्चा में मुस्करा कर, कभी किसी के द्वारा कुछ कहला कर जनाते रहते हैं कि 'मैं सदा तेरे साथ हूं।' भक्ति को तीव्र रखने का साधन केवल 'श्रद्धा' ही है। अर्थात् सदा अनुभव करना 'स्वामी मेरे साथ हैं।' ज्योंही यह भाव दृढ़ हुआ और यह श्रद्धा तब ही दृढ़ होती है, जब अनादि काल की कर्म-जनित वासना रूपी पाप भजन से क्षय हो जाते हैं तब!

विरहिनी—यदि वे भजन से मिलते हैं, तब तो मुझे निराशा के सिवाय और है ही क्या। मुझसे तो भजन होता ही नहीं।

स्वामी जी—सर्वोत्तम भजन है 'विरह'। और तुम तो साक्षात् विरहिनी हो। मूर्तिमान भजन हो। इन्द्रियां तो मन के आधीन हैं, उनके व्यवहार से मन का सदा पता नहीं चलता। माला हाथ में और मन बगुचे में। यह तो सुमिरण नहीं। गोपिका की तरह स्मरण ही भजन है। भजन करना तो उन्होंने जाना।

विरहिनी—वह कैसे भजन करती थीं ?

स्वामी जी—या दोहनेऽवहनने मथोपलेप
प्रङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षण मार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठयो धन्या
व्रजस्त्रिय उरुक्रम चित्तयाना॥

विरहिनी—प्रभो ! यह ठीक है कि गोपी जन गो-दोहन, दधि मंथन लेपन, झूलन, झाड़ू देते, बच्चे चुपाते और अनेक गृह-कार्य करते स्वामी की लीला का गान व कीर्तन करती थीं। इसी से उनको सदा प्रभु का रूप स्मरण रहता था। और स्मरण से ही परम सिद्धि प्राप्त की।

पर न तो प्रभु मेरे बीच उपस्थित लीला करते, जैसे गोपी जन से करते, न मुझे गान ही आता जो उनको रिझाऊं।

स्वामी जी—स्वप्न में उनका आकर तुमसे बात करना, क्या उनकी लीला करना न था। उनके जाने पर 'हाय कृष्ण!' की रट यह क्या मनोहर कीर्तन नहीं। जिस समय वह निरन्तर हो जायेगा। बस गोपी भाव के प्रादुर्भाव का समय आ गया। और वही प्रभु के मिलन का समय है।

बेटी ! तुम पर हरि की बड़ी कृपा है। इस छोटी उम्र में उन्होंने आंख-मिचौनी तुमसे शुरू करदी। यदि आज वह साक्षात् हाथ पकड़ तुमको साथ ले जायें, तो हम ऐसे अधमों को कौन उन तक पहुंचायेगा। तुम दु:ख हमें सुख देने को सहती हो। सन्तों के पीछे लोक कल्याण निमित्त ही प्रभु प्रारब्ध लगा देते हैं।

सो बेटी! चरण पखार इस दास को भी.........

विरहिणी—स्वामी जी ! जी भर लजाओ। दुखिया के दिल को दु:खाना.........(यह कह कर वह रोती रोती सामने स्वामी जी के चरणों पर गिर पड़ी। जब होश आया और आंख खोलीं तो स्वामी जी को वहां न पाया।)

(६)

मंत्र में बड़ी शक्ति होती है। गायत्री का जाप कर कितने आज सिद्ध बन यश बटोरते व चमत्कार दिखाते नहीं फिरते। भजन का बड़ा प्रभाव होता। नाम जप कितने शक्तिमान बन आज मठ व आश्रम बना चेले मूंड़ते व अपने पर तुलसी, पुष्प चढ़वाते। यह सकाम उपासक तो सफा कह देते हैं; क्या रक्खा है 'दास' बनने में, जो मज़ा हमने देखा ब्रह्म बनने में। यह दण्डवतों की बौछार देख कैसा मन फूलता है। थोड़े से दिन तप करो, अनुष्ठान कर देवी-देवता साध लो फिर करो मजे ! आगे की कौन परवाह करे। होगी पुनरावृत्ति और कर्म-चक्र हमें क्या ... ...?

यह नित्य का ड्रामा भले और देश में सुहाये। ब्रज में तो केवल एक देवता हैं-राधे के श्याम। हर पल यहां उन ही के नाम की ध्वनि है। उन्हीं की सेवा-पूजा, कथा-लीला का सेवन अनुकरण-श्रवण है।

बने तो श्याम से, बिगड़े तो श्याम से। कहने-सुनने को केवल एक वही चौखट है। यदि किसी देवता को अपने को यहां पुजवाना है, तो उनका दास बन आ जाये। चतुर भोले बाबा गोपीश्वर बन ब्रज में बैठे पुजने लगे।

हर घर यहां युगल सरकार का मन्दिर है। जो कार्य है, उनको ही समर्पण कर है। सब भगवत-बुद्धि से यज्ञ स्वरूप आत्म कल्याण-दायक है। ब्रज का वास बड़े भाग्य से मिलता है। जिसको यहां रस मिल गया और मन की दौड़ा-दौड़ खत्म हुई। वृन्दावन में आना संसार से सो जाना है। और प्रिया-प्रियतम के चरणाम्बुजों को हृदय में धारण कर निरंतर जागना है। ब्रज की बड़ी महिमा है। तुम पूछो क्यों? अच्छा सुनो!

बहुत दिनों की बात है। साढ़े पांच हजार वर्ष की बात है। नटवर नागर ने ही भेद बताया था। सो बताती हूं। धीरे से कहूँगी। कलेजा थाम कर सुनना। जिस रहस्य को श्याम सुन्दर पूरा न बता सके, उसे कहने का साहस करती हूँ। मां! बल दो।

लो सुनो! नारद जी ने श्याम सुन्दर से एक बार पूछा—'महाराज! आपका गुरु कौन है?' वह मुस्का दिये।

ऋषिराज ने फिर प्रश्न दोहराया। भगवान् गम्भीर हो गये। मुनिराज ने फिर पूछा! प्रभु की आंखें छलक आईं। देवर्षि ने हठ किया! आप बोले—गो·········(पी मुख से न निकल पाया और मूर्छित हो गिर पड़े।)

(७)

'गोपी की खोज वृन्दावद में'······यही प्रियतम से मिलने का कठिन-सुलभ रास्ता है। जो आंसू की अच्युत माला पो सके; श्वासि

कृष्ण ! कह सुध-बुध बिसरा सके; उसके लिये सुलभ है। कृष्ण विरही का यही अनुष्ठान महामंत्र-साधन है। निरंतर उसका यही जाप व ध्यान है।

गोपी मिली और कृष्ण मिले। गोपी व कृष्ण में भेद नहीं। वे गोपी नाथ हैं। बिना नाथ के गोपी अनाथ हैं और बिना गोपी के नाथ अधूरे नाम वाले हैं। वे गोपियों के यूथों के साथ नित्य ही कुञ्जों में विचरते हैं। कभी यमुना तट पर उनके संग विहार करते तो कभी बंसीवट पर वही रसिया मधुर मुरली की तान सुना कर उन्हें रिझाते हैं। यही उनका ब्रज में एक मात्र कर्तव्य है। यहां न ऐश्वर्य की महिमा का कोई इच्छुक है, न प्रभु को अपने दिव्य आयुध की कोई आवश्यकता पड़ती है। क्या करे विश्व व चतुर्भुज रूप देख कर! ब्रज वाले तो सखा-सखी बन उनके माधुर्य का रस पान कर ही तृप्त हुआ चाहते हैं। यहां तो बराबर की चोट है। देखो न! उस दिन मधु मंगल ने कह ही डाला 'अगर मैं लठिया का सहारा न देता, तो लाला क्या गिरिराज धारण कर सकते। तुम्हारी सब अकड़ किरकिरी हो जाती। सो मैंने लाज रख ली।' और सुबल ने तो टाल ठोंक कह ही दिया—'यहां नन्द भवन नहीं जो घर पहुंच शेर हो जाते हो। अगर दम है तो कुश्ती लड़ देख लो, उस दिन की तरह फिर पछाड़ता हूं या नहीं।'

जहां यह भाव वहां कौन जप और स्तुति करे। ब्रज का तो सीधा जप-तप यही है। 'श्याम बिना एक पल का वियोग कल्प का वियोग प्रतीत होना।' श्यामसुन्दर ही ब्रजवासी का जीवन। उन बिना वह प्राण हीन है। भले अन्तरयामी के अध्यक्ष से वे जीवित प्रतीत होवे हैं। पर उनका ध्यान तो प्यारे कन्हैया में सदा है। जहां जिसका

मन वहीं वह है। सदा ही उनके मुख पर राधे-श्याम है। ब्रज में हर समय क्या दिन क्या रात केवल इसी नाम की रट है। और 'नाम' व 'नामी' में भेद नहीं।

इतने नाम की दिन रात रट, निरंतर माला फेरना, तपस्वियों का जीवन, ब्रह्मचर्य, त्याग, पाठ, पूजा फिर भी वह क्यों नहीं प्रकट होते ?

विरहिनी यह सब बालपने से कर जब प्रभो का साक्षात्कार न कर पाई थी, तब वृन्दावन आई थी। यहाँ भी उसका सबसे यही प्रश्न था—

पशु गजेन्द्र की एक नाम की पुकार पर स्वामी प्रकट हो गए। और अपने पीतम्बर से उसके घाव पोंछे। अबला द्रोपदी की एक आतुर पुकार पर द्वारकाधीश वस्त्रावतार बन बज़ाज़ बन गए। और मैं दुर्भागी आज तक लाखों बार स्वामी को पुकार चुकी, पर वे न……

पीछे से किसी ने विरहिनी के कंधे पर हाथ रखा उसने सामने स्वामी जी को देखा। वे मुस्करा दिए और बोले 'वे आए और और अवश्य आये।'

विरहिनी—पर स्वामी जी ! मैंने तो न देखा।

स्वामी जी—अपने से दूर को सब देखते हैं, अपने को बिना ध्यान किये नहीं देखते। तुम अपने कान को, आंख को नाक को देखती हो ?

विरहिनी—नहीं !

स्वामी जी–अगर कहूं वे बीच में तुम से अलग हो जाएंगे क्या विश्वास आयेगा।

विरहिनी–नहीं !

स्वामी जी–ऐसे प्रभु सदा तुम्हारे साथ हैं। पुकारने पर वे वैसे ही प्रकट होते हैं, जिस भाव से पुकारती हो। सूर्य सदा है। काले काले बादल से ढक जाने से उसका न होना साबित नहीं। वह बादल हटा और उसका प्रकाश प्रतीत हुआ। अश्रद्धा का बादल आ गया है, वह हटा और प्रभु का निरंतर ही दर्शन है।

विरहिनी–प्रभो ! मेरी श्रद्धा में त्रुटि क्या ? देखो सब ही तो त्याग दिया और निरंतर उनके नाम की जाप है।

स्वामी जी–ठीक है। सच्ची हो। पर प्रारब्ध तो तुम्हारे त्यागने से त्यागी नहीं जा सकती। जन्मान्तर का ऋण कर्म बिना चुकाये कैसे कहां पीछा छोड़ता है। वैसे तो तुम अपने निज स्वरूप में कर्म के विकार व स्पर्श से परे हो। प्रकृति के दोष तुम्हें छूते नहीं, पर कर्म भोगने को ही उस तुम्हारी अकर्ता, अविकारी आत्मा को कर्म जनित शरीर रूपी वस्त्र—जो सुख दुःख के ताने-बाने से बुना है—पहनना पड़ता है। जब तक वह जीर्ण न होकर छुटे छुटकारा नहीं। यदि कहो कि अकाल मृत्यु से उसे त्यागूं, तो आत्म हत्या महा पाप है और घोर नरक में ले जाने का हेतु है।

इसलिए दुःख-सुख सम जान, प्रभु के भजन, सेवा करते यह भोग कर अन्तःकरण निर्मल करती चलो। जहां वह साफ हुआ—मोह नष्ट हुआ—और सूर्य के प्रकाश की तरह तुम्हारे हृदय में विराजमान युगल सरकार के दर्शन होंगे।

विरहिनी–मुझे दर्शन होंगे। 'कभी' स्वामी के दर्शन होंगे मुझ पापात्मा को ?

स्वामी जी–अवश्य केवल उनकी कृपा में यदि विश्वास रखो तो पाप प्रतिबन्धक नहीं। क्या वह पतित पावन नहीं।

विश्वास की कमी बंधन का हेतु है। अनादि काल से वासना जीव के पीछे लगी है। आसक्ति का वह शिकार है। फिर श्रद्धा हो तो कैसे ? गुरु हरि, संत, शास्त्र किसी में भी अटूट श्रद्धा हो जाये तो बेड़ा पार है। प्रभु को गाली ही दे ले, तो उसकी मुक्ति है। कोई सम्बन्ध तो स्थापित करे। न सीधा नाम ले, उलटा ही लेले।

विरहिनी–सीधा नाम लेने से तो आये नहीं, उलटे से क्यों आने लगे ?

स्वामी जी–भूल गई वाल्मीकजी की बात ?

विरहिनी–उसका क्या रहस्य था ?

स्वामी जी–श्रद्धा ! नारद जी ऐसे पूरे गुरु–वाक् में अटूट श्रद्धा, शब्द में बड़ी शक्ति होती है, फिर प्रभु का नाम –उसके जपने वाले को तो उनके स्वरूप की प्राप्ति है। रूप भोग्य साम्य प्राप्ति। सायुज्य मोक्ष।

प्रभु का नाम; परम भाव स्वरूप है। नाम उलटने से भाव तो न उलटा। अर्थात् मानसिक स्थिति में तो भेद न आया। और श्रद्धा

इन्द्रिय का विषय नहीं, मन की अवस्था है। कर्म से प्रेरे, श्रुति के सकाम वाक् से विचलित बुद्धि अव्यवसायात्मिक कभी स्थिर नहीं रहती। फिर एक निष्ठ न होने से श्रद्धा कैसे हो? जब तक ममता, अहंकार, सुख-दुख रूपी द्वन्द्व का पूर्ण त्याग न हो, सम् अवस्था में जीव उपस्थित न हों, दैवी सम्पदा का प्रादुर्भाव नहीं होता, फिर श्रद्धा कैसे हो?

प्रभु के स्वरूप--उनके रूप, गुण, लीला में निष्ठा ही का नाम श्रद्धा है। उसमें भाव निश्चयात्मक होने ही का नाम ज्ञान, भक्ति, शरणागति है। इस श्रद्धा के प्रतिबन्धक को काम कहते हैं, अज्ञान कहते हैं, आसक्ति कहते हैं, पाप कहते हैं, माया कहते हैं। जब तक जीव की निष्ठा देवी-देवता, घर सम्बन्धी, अनुष्ठान आदि में है, और इसका कारण है प्रारब्ध! जब तक इसकी उनमें आसक्ति है, उनका अवलम्ब लेता है--यह लाख जप-तप करले, भजन करले, भले सिद्धियां भजन के प्रभाव से मिल जायें पर निष्काम देव श्री गोपीनाथ की प्राप्ति कदापि नहीं।

पर जब ही उसके पाप क्षीण हुए, चारों ओर से उदासीन हुआ--न अपने अहंकार, बल में श्रद्धा रही, न सगे सम्बन्धी में और उसके हृदय से सच्ची पुकार निकली 'हे कृष्ण! आओ।' उस नाम के निकलने में देर लगती है पर उनके प्रकट होने में देर नहीं लगती। सब योग, ज्ञान, कर्म प्रभु में आसक्ति होने के लिये हैं। प्रभु में ही केवल रति होने का नाम अनन्य भक्ति है। बस वही एक मात्र सुलभ उनकी प्राप्ति का शीघ्र रास्ता है।

बालक बार बार लिखता है, तब अच्छा लिखना आता है। कितने परिश्रम से वेद पाठ शुद्ध करके विद्यार्थी कर पाता है। पर

संस्कार भेद से सात्विक भाव के प्रकाश का भेद है। कोई भक्त बना बनाया ही पैदा होता है। साधारण साधक को पुकारते पुकारते ही वह द्रौपदी की तरह एक बार पुकार प्रकट करने वाली पुकार करना आता है।

विरहिनी–कब और कैसे वैसा पुकारना मुझे आयेगा ?

स्वामी जी–पुकारते-पुकारते।

(विरहिनी चरण पकड़ती है।)

स्वामी जी—बेटी ! तेरी दीनता व व्याकुलता तथा निष्कपट खोज एवं अनन्यता ने जैसे मुझे खींचा, वैसे ही कोई समर्थ संत तुझे यहां आकर मदद करेगा। अपनी शक्ति संचार कर, प्रारब्ध नष्ट कर तुझे स्वामी के सन्मुख ले जा खड़ा कर देगा। केवल दृढ़ हो लगी रह, प्रमाद न आने दे। भजन किए जा। एक बार का बिना श्रद्धा का लिया भी नाम बेकार नहीं जाता। बस ! पुकारे जा, बेटी ! तेरा कल्याण हो प्रभु तुझे शीघ्र दर्शन दें। और अपनी गोद में सदा के लिये बैठायें। जय राधेश्याम·········

(८)

कृष्ण-प्राप्ति के पथ में—बिना गुरु ज्ञान–दीपक के कैसे चाल चली जाये। राह रपटीली है—अन्ध्यारी है। न कोई संगी न साथी······

पीछे से आहट हुई। विरहिनी ने मुंह फेरा। गोपिका मुस्कराती बोली—मैं तो साथी हूँ।

विरहिनी कण्ठ लगा विलाप करने लगी। हो ! अवश्य तुम मेरी संगी हो। मुझ दुखिया के आंसू पोंछने वाली केवल एक तुम ही मिली हो। हां अपनी गोद में लिटा प्यारे की विरह-अग्नि में जलती

मेरी तप्त बुझाने वाली तुम हो। मेरे भाग्य तुम मिल गईं। अब अवश्य एक दिन मुझको मेरे स्वामी मिलेंगे। उनकी प्यारी गोपिका पा फिर और क्या कुछ साधन करना बाकी रहता है, कदापि नहीं।

विरहिनी—अब क्या करना है ?

गोपिका—स्वामी को बुलाना है।

विरहिनी—कैसे ?

गोपिका—श्याम आओ ! श्याम आओ ! श्याम……आ…

(गोपिका श्याम की गोद में पहुंच गई।)

विरहिनी गोपिका की यह दशा देख, व्याकुल हो पुकारने लगी। पर वहां कौन सुनता। मुख पर कान लगा सुनती तो कभी २ वही 'श्याम' की महीन आवाज़ सुनाई पड़ती।

विरहिनी घबरा कर इधर उधर सहायक खोजने लगी। यमुना पार से गइयां आती दिखाई दीं। साथ कुछ बालक थे। उनमें से एक ने विरहिनी को चिन्तित देख प्रश्न किया—"मैय्या ! क्यों घबराई सी फिर रही है ?"

वह बोली—"लाला ! श्याम-श्याम पुकार मेरी सखी अपना गीत अधूरा गा अचेत हो गई। अब उस गान को कौन पूरा करे ?"

बालक- बताऊं !

विरहिनी—हां !

बालक—कन्हैया पूरा कर देगा।

विरहिनी—कन्हैया कौन है ? ऐसे वैद्य की ही तलाश थी। जल्दी बता तेरे बलि जाऊं।

बालक—(पुकार कर) ओ कन्हैया ! अबे इधर तो आ कह तो यह क्या काण्ड रचा है ? इस बेचारी पर निर्दयी दया ला। पहले

तो घाव करता है, फिर उस पर नमक छिड़कता है। मारता है, फिर मुस्कराता है।

'कन्हैया इधर आ' की मधुर ध्वनि गोपिका के कान में पड़ी। वह चैतन्य हो उठी। 'कन्हैया-कन्हैया' कहां है ? सखी जल्दी बता, कह वह विरहिनी के कंठ से लग गई। वह उसे प्रसन्न देख गाढ़ आलिंगन करने लगी। दोनों आपस के प्रेम में ऐसी आसक्त हुईं कि बाह्य ज्ञान न रहा

जब सुध आई, दोनों ने देखा, चारों ओर सूना था। न गैया, न ग्वाल-बाल। शाम हो चुकी थी। आरती मन्दिरों में होने लगी थी। दोनों उदासीन वहां से उठ दर्शनों को चल दीं।

(३)

विरहिनी गोपिका को आलिंगन कर पूछने लगी—बहन! यह सुंदर श्याम नाम पुकारने की युक्ति तुमने कहां से सीखी !

गोपिका—[मुस्काती] तुमसे।

विरहिनी—मुझसे ? मुझे तो यह विद्या आती नहीं। इसी की खोज में अनेक साधन साधती, महात्माओं से कथा व उपदेश सुनती फिरी हूं। पर आज तक अपने प्यारे को तन-मन बिसरा ऐसे न पुकार सकी। कृष्ण में ऐसी अनन्यता, ऐसी तन्मयता कि एक बार नाम लेते ही बाह्य संसार क्या, यह शरीर रूपी संसार भी बिसर जाये। बहन ! क्या असंस्कारी जीव, जिसके न ऐसे सुकृत हैं, न पूर्व पुण्य जागे हैं, ऐसी पुकार, पुकार सकता है ?

गोपिका—अवश्य ! प्रमाण तो प्रत्यक्ष है ।
विरहिनी—कौन ?
गोपिका—मैं !
विरहिनी—कैसे ?

गोपिका—क्या नहीं जानती; गृह-आसक्त मैं बाल-बच्चों वाली, फिर दूसरों को बिना अनुभव किये उपदेश देने में चतुर, वृन्दावन वासिनि, ऐसी पुकार पहले कभी न पुकार सकी थी ।

पर आज वह असम्भव भाव सम्भव हो गया । कैसे ! केवल क्षण मात्र के संग से । केवल उसको जंघा पर लिटा उसके आंसू पोंछे थे । और नित्य की व्यवहारिक आदत के अनुसार सान्त्वना दी थी । उसके मूक हृदय से आशीर्वाद निकला था……!

विरहिनी—बहन ! कहां की बात है ? मुझको भी उनके पास ले चलो । मैं भी उनकी सेवा कर, उनका आशीर्वाद प्राप्त कर कृतार्थ हो जाऊंगी । जल्दी करो कि उनकी परछाईं मुझ अधम पर पड़े और मेरे जन्मान्तर के अघ कट जायें ।

गोपिका—अवश्य मिलाऊंगी ।
विरहिनी—क्या वे बहुत दूर रहती हैं ?
गोपिका—नहीं तो, बिलकुल निकट ।
विरहिनी—क्या मैंने भी उनको देखा है ?
गोपिका—हां ।
विरहिनी—वह कौन हैं ?
गोपिका—'यह !'
(गोपिका, विरहिनी को लिपट रोने लगी । दोनों 'हाय श्याम!' कह बेसुध हो गईं ।)

(१०)

यमुना तट पर वट वृक्ष के तले एक निर्जन स्थान में एक बालिका को घुटनों में सिर दिए, मानो गर्भासन लगाये बैठी देख, भटकते स्वामी जी चलते-चलते रुक गये। चारों ओर सुन्दर दृश्य देख कुछ देर ध्यानावस्थ वह भी वहां मौन हो बैठे। बालिका ने कुछ उनकी ओर ध्यान न दिया। स्वामी जी ने कुछ सकुचाते पूछा--'बेटी! किस सोच में बैठीं हो ?'

बालिका—(बिना सिर उठाये) प्रतीक्षा कर रही हूँ।
स्वामी जी—किसकी ?
बालिका—गुरुदेव की!
स्वामी जी—तुम्हारे गुरु कौन हैं ?
बालिका—गोपिका।

स्वामी जी—गंवार ग्वाल-बाल, अनपढ़ गोपिका भी भला किसी की कहीं गुरु होती है ?

(स्वामी जी की ओर क्रोध से उत्तेजित हो बालिका अपने को संभालती बोली–) निर्लज्ज! दूर हो। मेरे गुरुदेव मेरे ईश्वरी का अपमान करता है। वृन्दावन की कुञ्ज गलियों में लोट कर अपनी बुद्धि का शोधन कर! जब तेरी अन्तर की चक्षु खुलेंगी, तब तुझको गुरु की गली का पता मिलेगा।

गुरु ज्ञान दीपक देगा। उसी से भगवत्-प्राप्ति होगी। बिना गुरु मुक्ति नहीं। कृष्ण से मिलाने वाला गुरु केवल वृन्दावन ही में वास करता है। वह है मेरा गुरु।

स्वामी जी—(कुछ धीमे होते) आपका गुरू कौन है ?

बालिका—क्या आप उनका नाम सुनते ही बुद्धि खो बैठे। बता तो चुकी; चित्त आपका कहां था ?

स्वामी जी—हां याद आ गया ! गोपिका ?

बालिका—जरा सभ्यता से बरतिये। श्री जी की दासी, प्यारे की प्यारी श्री गोपीजन कहिए।

बिना कुछ स्वाध्याय सत्संग के ही सिर मुंड़ा लिया जो इन जगत-गुरु श्री रास रासेश्वरी की सखी श्री गोपीजन की महिमा से अपरिचित हो।

स्वामी जी—(कुछ अनमने से) मैं तो इन गोप बालों ग्वाल-बाल और गोपिकाओं को अनपढ़ अज्ञानी ही समझता था।

बालिका—स्वामी जी ! पढ़े तो जरूर हो पर प्रेम का अञ्जन लगाना न पढ़े। नहीं तो नारद ऐसे ज्ञानी को उनके आदर्श भक्ति की महिमा गाते सुनते ! शुकदेव जी ऐसे ब्रह्मवेत्ता को उनकी भक्ति व ज्ञान की प्रशंसा करते विह्वल होते देखते और उद्धव ऐसे ज्ञानी को उनकी चरण-रज में ज्ञान के फल रूपी कण भक्ति को ढूँढ़ते पाते।

स्वामी जी—बेटी ! ज्ञान किसको कहते हैं ? जरा मैं भी तो तुमसे सुनूं, जो श्री गोपीजन को ज्ञानी व गुरु कहती हो।

बालिका—यही न जाना तो यह कपड़े क्यों रंगाये ? 'ज्ञान' हैं श्री कृष्ण ! वही विज्ञान हैं और वहीं ज्ञान विज्ञान से परे हैं। क्या प्रमाण की जरूरत है ? क्या उन्होंने स्वयं न कहा--

गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञान गम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

वही जिसका तुम हृदय में ध्यान करते हो, वह ही ज्ञान है। वही कृष्ण गोपिका का माखन चुराता; गोबर उठाने में मदद देता; गउएं चराता; कन्हैया बन (नन्द बाबा) के आंगन में खेलता है। कृष्ण ही ज्ञान है। वही जानने योग्य है। उसको केवल गोपिकाओं ने ही जाना। गोपिका की शरण जाओ। बाबाजी; बिना गुरू कल्याण नहीं।

स्वामी जी जाने कितनी बार गीता का स्वाध्याय हरिद्वार में न कर चुके थे। बड़ा तप कर चुके थे। महान त्यागी थे। और स्त्री की तो परछाईं से कोसों दूर रहते थे। उनके संगियों ने शास्त्र उठा उनको दिखाया था ! 'भैय्या ! लकड़ी की स्त्री से भी बचना।' आज यह बालिका ज्ञान का यथार्थ स्वरूप बता कहती है, अपने गुरू से यह ज्ञान प्राप्त किया है। जो जो भी बात इसने कहीं, यथार्थ ही कहीं।

बालिका—बाबा जी ! किस विचार में पड़ गये ! यह तो रस भूमि है। भक्ति स्थल है। कोरे वाद-विवाद, शुष्क ज्ञान को त्याग भक्ति का रस लो।

सब ज्ञान का फल है भक्ति। ज्ञान की परानिष्ठा वही है। ज्ञान की आंच लग जब विशुद्ध बुद्धि हो जाती है, अहंकार नष्ट हो जाता है, ममता जाती रहती है, तब प्रभु स्वरूप में रति होती है। भगवत्-कृपा होती है और:—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

भक्ति से भगवत्-प्राप्ति होती है। ज्ञान तुमने अवश्य सीखा। प्राणायाम समाधि इत्यादि रूपी यज्ञ स्वरूप कर्म तुमने गुरू के उपदेश

द्वारा किये; उसका फल है कि तुममें इतना ज्ञान हुआ कि इधर निकल आये। अब उस ज्ञान को भक्ति से शोधन कर प्रभु के चरणारविन्द में रति प्राप्त करो।

स्वामी जी—वह कैसे हो ?

बालिका—फिर वही सवाल! गोपिका की शरण जा।

स्वामी जी—गोपिका कहां मिले ?

बालिका—खोज करो !

स्वामी जी—कहां ?

बालिका—वृन्दावन में !

स्वामी जी—कैसे पहचानूंगा कि यह कृष्ण-प्यारी गोपिका है।

बालिका—स्वामी जी ! पहचान कठिन है। जब वही कृपा करें तो पहचान हो। गोपिका का मिलना केवल भाग्य के आधीन है। सब आसुरी भाव-काम, क्रोध, लोभ, ममता, अहंकार जब तक नष्ट न हो जायें, दैवी सम्पत्ति का प्रादुर्भाव न हो, तब तक गोपिका नहीं मिलती।

स्वामी जी—कहां ढूँढू ? क्या करूं ?

बालिका—भटको

स्वामी जी—हंसी न करो। युक्ति बताओ।

बालिका—मेरा हंसना बुरा लगता हो तो मौन हो जाऊं। लो मौन हो गई।

स्वामी जी—नहीं बेटी ! दया आई है, तो युक्ति भी बता दो !

बालिका—निष्कपट, निष्काम, निरंतर पुकारो।
स्वामी जी—क्या ?
बालिका—रा········
कहती बालिका अदृश्य हो गई।

\+ + + + +

(११)

'लगन' ही जीवन है। यही सार है। जब लग जाये। जहाँ लग जाये। जिसमें लग जाये।

'प्यारे में लगन'—बड़ी कोमल है। यदि भाग्य से किसी में वह महा भाव जाग जाये।

कितने जीवनों में भटक, नाच नाच, माया की दासी बन वृन्दावन में भिखारिनी हो विरहिनी आन पड़ी थी।

लोक-लज्जा, मान-प्रतिष्ठा, धन सम्बन्धी सब ही त्याग वह श्याम को ढूंढ़ती सेवा कुंज की कुंज गलियों में आन निकली थी।

अन्धयारी रात थी। सब ओर सन्नाटा था। प्यारे के नाम की टिमटिमाती ज्योति से रास्ता ढूँढ़ती वह चल रही थी! कि विरह तप्त आह ने वह भी ज्योति बुझा दी। अंतिम सहारा भी गया।

तब प्रिया जी की सखी ने संग दिया। अपनी सूनी अटरिया, सावन की बदरिया, मोहन बिन कैसा जीना··· ··· ··· ···राग सुना विरहिनी का बुझा चिराग जला दिया। विरहिनी मोहन को हृदय

मन्दिर में खोजने लगी । तब गोपिका को दया आई और प्यारे के मिलन की राह बतलाई । यहां स्वामी जी वह कठिन सौदा झट पट ही किया चाहते थे ।

गोपिका ने तब भी रहस्य बताया—दया की भंडार ब्रजबाला होती हैं । किसी को प्यासा, भूखा नहीं जाने देतीं । सदा ही छाछ और माखन-मिश्री खिला ही देती हैं । यदि भाग्य होते हमें भी वह गोपिका मिल जाती ! और कृष्ण-मिलन का मन्त्र फूंक देती……

२—बलिहारी तेरी श्रद्धा !

प्रिय बहन !

मनुष्य जीवन दुर्लभ है, क्षण भंगुर है। प्रियतम की खोज के अतिरिक्त, यात्रा नीरस है। तुमसे क्या कहूँ, जिस पर सब ही रहस्य प्रकाशित है। न ऐसी होती तो रसिक शिरमौर की चाह में क्यों निकल पड़ती। हां ! सब ही त्याग क्यों दर दर भटकती फिरती ? ओ मूर्ति-मान, अनन्य कृष्ण-चाह की विग्रह स्वरूपनी ! सुने जाओ, प्रियतम की मन भावनी कहां, हां फिर वही पुकार, वही इंतज़ार……

(१)

श्याम ! क्या न आओगे ? मोहन ! यों ही सताओगे, तड़पाओगे, कलपाओगे ? आंख इन्तजार करते करते पथरा गई। हृदय कंपित हो हो शांत हो चुका। आंसू बह बह सूख चले। आह निकल निकल शिथिल हो गईं।

फिर भी हे चितचोर ! तुम न आये। इस भिखारिनी के पास स्वामी ! अब रखा ही क्या है ! क्या उपहार देगी, यदि तुम पधारे। और बिना उपहार मैं दुखिया क्या न लजाऊंगी।

मोहन ! तुम न आये। बताओ ना ! क्या करूं; जो तुम आओ ! इस मेरे सूने हृदय-मन्दिर को पांव पखार फिर बसाओ।

मंडराती चकोरी को देख जी को ढाढ़स आता है। निराश न हो; प्रतीक्षा करती रहूं। पपीहे को 'पी-पी' की पुकार सुन जी चाहता, हिम्मत न हारूं। पुकारती चलूं ! 'मेरे पी आओ ! स्वामी ! अपनी दासी को कंठ लगाओ, अपनाओ, उसकी हृदय तप्त बुझाओ।'

(२)

प्यारे ! तेरी दी जान मैंने लौटानी चाही। मृत्यु की चौखट जा खट खटाई। वह न आई। और आती भी कैसे ? किसी एकान्ती को भले वह अपनी गोद देती; पर मेरे साथ इतने साथी देख वह घबराई। कैसे संभालती उन्हें, आह को, आंसू को, मिलन की चाह को, दर्द को, विरह को। किस किस को। सब ही तो मेरे साथ थे। हां मृत्यु भी लजाई। उसने भी आंखें चुराई। मैं अपने साथियों को ले लौट आई।

स्वामी ! अब तुम ही बताओ क्या करूं ? कहां सिर पटकूं ? कौन राह बताये ? जो तुझ तक पहुंचूँ । स्वामी ! मेरा आंगन सूना है ! मेरी यह संग सहेली बड़ी आशा लगाये बैठी हैं । आंचल बिछाये बैठी हैं । उनकी गोद भर दो । क्या तुम न आओगे प्यारे……?

\+ \+ \+ \+ \+

'आऊंगा'—हैं यह मधुर शब्द कौन कहता है । हे मेरे हृदय वासी ! यह तुम क्या कहते हो । कैसे आओगे ?

'साधन कर' कैसा साधन, क्या साधन ? तुम ही बताओ । मुझे तो कुछ करना नहीं आता । तुमसे मिलने को चली थी । एक चाह ले चली थी। राह में आंख बिछाती चली थी । पथ पलकों से झाड़ती चली थी । आंसुओं से छिड़काव करती चली थी । आह का पंखा करती चली थी । बड़ी आस बांध कर चली थी । तुमसे मिलने को चली थी ।

इस लम्बे पथ से न घबरा चली थी । प्रियतम से मिलने को चली थी ।

बहुत दूर का सफर था । एक चाह ले चली थी । निराशा के अंध्यारे में आशा का दीपक ले चली थी । प्यारे से मिलने को चली थी ।

मैं अपनी जीवन यात्रा पर चली थी। भाव-अभाव के समुद्र में गोते लगाती चली थी ।

ठाकुर ! तुम्हारी पुजारिन तुमसे मिलने को चली थी । स्वामी ! तुम्हारी सेविका तुमसे मिलने को चली थी। पिता ! तुम्हारी पुत्री

तुम्हारी चरण-रज अपने मस्तक पर धारण करने को चली थी। अपने विरह की गाथा सुनाने को चली थी।

भूखी, प्यासी, अचेत, तुम्हारी खोज में चली थी। उस पार, उस पार से आती तुम्हारी मुरली की ध्वनि सुन चली थी। मैं चली थी। यात्री बन चली थी। बे सरोसामान चली थी। तुमसे मिलने को चली थी। मैं चली थी।

(३)

'साधन कर'—तुम इस असमर्थ से कहते हो। 'बल ला'-तुम इस निर्बल से कहते हो। शान्त हो,--तुम इस अशांत से कहते हो। स्थिर हो,—तुम इस अस्थिर से कहते हो।

अकेली को तुम बुलाते हो, पर यह अपने वियोग के संगी कैसे त्यागूं। यह आह, यह आंसू, यह तड़प, यह कसक इन्हें कैसे निर्दयी बन त्याग जाऊं। क्या यह अकृतज्ञता न होगी।

पर आऊंगी ? जिस तरह तुम राजी हो, वैसे आऊंगी। बिना संग, बिना साथी आऊंगी। अकृतज्ञ कहला आऊंगी। संसार से मुंह छिपा आऊंगी। स्वामी ! आऊंगी। तुमसे मिलने आऊंगी। जैसे कहो, वैसे ही आऊंगी। अवश्य आऊंगी। तुम्हारे पास आऊंगी।

\+ \+ \+ \+

(४)

स्वामी ! 'साधन करती आऊंगी' यही तुम्हारी आज्ञा है, आज्ञा पालन करती आऊंगी। इस नीरस जीवन की बिना नाविक

डूबती नैया, तुम्हारी बताई पतवार से साधती आऊंगी। मैं आऊंगी। अवश्य आऊंगी। प्यारे! तुमसे मिलने आऊंगी।

बोलो ना! वह मोल भी दूं। बताओ ना! क्या साधन करूं?
'अपने हृदय-मन्दिर में खोज'—

ठीक ही है। यही आज तक करती आई हूं। रातों इस शून्य हृदय-मन्दिर में तुमको खोजा की हूँ। पर………

'जप कर!'……

वह भी कर चुकी। देख लो ना! यह अंगुली माला फेरते फेरते घिस गई, पर………

'तप कर।'

क्या यह अब करना बाकी है। देख लो ना! इस अस्थियों के पिंजर को। केवल तुम्हारे 'मिलन की आस' ही सूत्र बन, इन मणियों को धारण किये है। नहीं तो जानें कब की बिखर जातीं, पर……।

'बस अपना गुह्यतं रहस्य बताता हूं। अपने मिलन की एकमात्र कुन्जी बताता हूं—

'मेरी विरहिनी की खोज कर'—

(२)

प्रेम मन्दिर! प्रियतम का घर।

कितनी दूर! आह कितनी दूर!

कैसे सुन्दर शिखर! स्वर्णमय, मणिमय! पर उन पर वह घटा कैसी?

हैं ! और यह क्या ? वह पीताम्बर का छोर कैसा झलका, मधुर वंशी की सुरीली ध्वनि कहां से आई !

\+ \+ \+ \+

थोड़ी देर ! बस थोड़ी देर ! ओ मेरे उड़ते प्राण ! सांस दे दे। निमिष भर ! केवल निमिष भर ! मेरे नेत्रो ! न बंद होओ ! बस देख लेने दो ! जी भर देख लेने दो।

'उसको—मन्दिर के सिंहासन पर विराजमान'''को'''अपने प्रियतम को'''जीवन आधार को''''

बस एक बार ! बस एक बार !

(६)

"कठिन है ! सखी ! कठिन—श्याम मिलन कठिन है।" पर और चारा भी तो नहीं।

"महा कठिन है ! सखी ! महा कठिन—विरहिनी मिलन महा कठिन है।" पर और सहारा भी तो नहीं।

करूं भी क्या ? मुझे तो यही आदेश है। "मेरी विरहिनी की खोज कर।"

\+ \+ \+ \+ ×

वृन्दावन और उसकी कुंज गली। हुआ करें भूल भुलय्यों का घर। मैं अवश्य उनमें खोजूंगी।

हां उस पार भी जाऊंगी। यमुना किनारे। अवश्य जाऊंगी। विरहिनी की खोज में जाऊंगी। उस पार जाऊंगी।

(७)

"दूर है, बड़ी दूर है प्रियतम का घर। बावली रास्ता बड़ा लम्बा है।"

विरह की रात्रि से तो लम्बा नहीं।
'और यमुना जल उमड़ रहा है।'
इन नेत्रों के जल से तो अधिक नहीं।
'फिर तू अकेली है। न संगी है न साथी।'

—थे-आह, तड़प, आंसू, कसक—सब ही थे-पर प्यारे ने अकेला बुलाया है! पर नहीं नहीं-अपना 'निरंतर ध्यान'—संगी दे दिया है। फिर कैसे कहूँ अकेली हूँ।

"भींग जायेगी, वर्षा हो रही है।"

देख! मेरे विरह की ज्वाला पर वे बूंदें गिर 'छन! छन!' कैसा मधुर शब्द कर रही हैं।

'तेरा कल्याण हो'—अच्छा! पगली जा, उस पार जा—'

\+ (८) ×

उस पार! हां उस पार! उस पार!

प्रियतम! क्यों बसाया, तुमने अपना घर इतनी दूर, हां उस पार! उस पार!

राह रपटीली और मैं बल-हीन ! राह भटकीली और मैं पगली । ओ अनाथों के नाथ क्या न सुनोगे 'इस अबला की पुकार'—बस एक बार—क्या न दर्शन दोगे, एक बार; बस एक बार !

जीवन की घड़ियां बीतती जाओ । चुरा ले अवश्य ! चुरा ले काल ! चुरा ले मेरे रस हीन जीवन की सारी अवधि । पर नहीं, बस आखिरी एक निमिष छोड़ देना—उसे न छेड़ना—वहां बैठी है, बड़ी आस लगाये, युगान्तों की दुःखिया, विरहिनी की वह व्यथित पुकार—'दर्शन देना, स्वामी । बस एक बार बस एक बार ।'

(९)

मैं वियोग न सह सकी । मेरी कायरता ! आह ! पुकार बैठी, स्वामी ! दर्शन दे जा, 'बस एक बार' 'बस एक बार !'

प्रेम का पथ—वीरों का पथ—और उसमें आन पड़ी मैं कायर ! मैं कलंकिनी ! अपने स्वामी के वस्त्र को मैला कर बैठी । हां वही तो वह सदा धारण करते हैं ! अपने प्यारों का प्रेम ।

क्षमा भी तो तुम्हारा गुण है । और मैं हूँ शरणागत अबला—प्यारे ! क्षमा करना मेरी कायरता !

(१०)

पण्डित जी ! तुमने सच ही कहा था—'जो दुःख न सह सके, वह नेह लगाये क्यों ?' बालक बोझल गठरी उठाने का साहस करे—तो अन्त प्रत्यक्ष ही है !

तो क्या फिर न मिलेंगे ?

पर उन्होंने कहा है, 'मिलूंगा'। पथ-प्रदर्शक भी बताया है—'विरहिनी को खोज'। अपना घर भी दिखा दिया 'उस पार'—

वे मिलेंगे—अवश्य मिलेंगे—वे मिलेंगे—

(११)

यह कैसी झिझक! कैसा संकोच! 'कूद पड़ कूद पड़ कूद पड़!'

उमड़ता जल। गहरी यमुना। न नाविक, न नैया। और मैं अबला, कैसे जाऊं उस पार!

'कूद पड़'—हां कूदूंगी, अवश्य कूदूंगी, विरह! तू साहस दे। आशा! तू बल दे। मैं कूदूंगी, अवश्य कूदूंगी। नहीं तो कैसे जाऊंगी उस पार।

\+ + + + +

हां उस पार जाऊंगी। यही मेरे जीवन का आदेश है...... पर हैं; वह कौन? मेरी पथ-प्रदर्शक! कौन-'विरहिनी'—"गोपिका का हृदय खिल उठा'—हां वही विरहिनी—जो मुझे एक बार जीवन प्रदान कर चुकी थी। मृतक जीवन को सजीव कर गई थी। रस-सागर श्याम सुन्दर की झांकी दिखला गई थी।—मेरी 'विरहिनी' मिल गई। प्यारे! अब मैं अवश्य पहुंच जाऊंगी। हां तुम्हारी गोद में, उस पार हां उस पार!

(१२)

विरहिनी के पास आई थी। जप-तप-पाठ-पूजा-कथा,-कीर्तन—हां अब कुछ भी न उलझा सका, तब आई थी। व्यथित हृदय लेकर

आई थी। अपनी करुण कहानी सुनाने आई थी। उलझी थी, सुलझने आई थी। किसी की आज्ञा पा आई थी। रातों जाग, दिनों भटक प्यारे को खोजती, प्यारे की प्यारी से भिक्षा मांगने आई थी। हां! अपनी व्यथा सुनाने आई थी। रास्ते में कांटे मिले, नदी मिली, नाले मिले सब ही को पार करती आई थी। "वह मेरी कथा सुनेगी'— यही आशा ले आई थी।

\+ + + +

पर हैं 'यह क्या' यह क्या कह रही है। अपनी धुनि में मस्त इसको तो बाह्य ज्ञान ही नहीं। फिर क्या इससे अटकना उचित है। पर न कहूँ, तो इस विरह को ले जल न जाऊंगी। स्वार्थ के नाते कहूंगी—अवश्य कहूँगी।

\+ + + +

(१३)

तीसरी बार उसने प्रश्न किया; 'प्यारी ? क्या कर रही हो, इस एकांत निर्जन स्थान में ?'—वह चौंकी, 'साधन'—कह फिर अपनी धुनि में लग गई।

'क्या साधन ? किसका बताया साधन ?'

एक स्वामी जी बता गये। यह रेत के कण गिन डाल तो श्याम मिल जायेंगे।' इतना कह फिर उसने गिनना शुरू कर दिया।

'बलिहारी तेरी श्रद्धा ? तुझे अवश्य स्वामी मिलेंगे' —यह कह गोपिका चल दी।

(१४)

फिर वही हालत ? कई दिन बाद। गोपिका ने विरहिनी को खोज निकाला, यमुना किनारे लहरों को देख रही थी।

'क्या कर रही हो बहन?'—प्रश्न सुन—विरहिनी गोपिका से कह 'साधन'—चुप हो गई।

'क्या साधन ? किसका बताया साधन ?'—उसने फिर पूछा। विरहिनी बोली: 'स्वामी जी बता गये, यमुना की लहरों को गिन ले, तेरे प्यारे तुझ को मिल जायेंगे। तभी से लहरें गिन रही हूं।' 'बलिहारी तेरी श्रद्धा ! तुझे अवश्य स्वामी मिलेंगे।' गोपिका आशीर्वाद दे वहां से चल दी।

(१५)

कुछ दिन पश्चात् गोपिका कालीदह पर जा निकली। त्रिभंगी मुद्रा से विरहिनी को नेत्र ऊपर गढ़ाये, एक कदम्ब वृक्ष का सहारा ले खड़ी देखा। वह बोली: 'बहन ! क्या कर रही हो ?'

'स्वामी जी का बताया साधन'—विरहिनी के जवाब देने पर गोपिका ने पूछा:—'क्या साधन है, मैं भी तो सुनूं।' ''प्रतीक्षा किये जाओ, जब भी स्वामी कृपा कर आ जायें।' 'और भी कुछ बताया है ?' गोपिका ने पूछा।

"मंत्र सुनाया है।" विरहिनी ने कहा।

'क्या ?' गोपिका ने पूछा।

'कैसे बताऊं, आज्ञा नहीं ! पर बताये बिना रहा भी नहीं जाता। गुरु-आज्ञा उल्लंघन से भले मुझे नर्क हो, तुम्हारा तो कल्याण हो जायेगा। इधर पास आओ सुनो,—रा..................

(१६)

'मंत्र का जाप, कृपा की आशा, मिलन की प्रतीक्षा'—रास्ते का यह खर्चा पा गोपिका, विरहिनी के पास से चलदी।

विरहिनी के अन्तिम शब्द वायु द्वारा उसके कानों में प्रवेश कर गये,

श्याम! क्या दर्शन न दोगे। बस एक बार, बस एक बार'......

३—पपीहे ! बता, पी कहां ?

प्रिय बहन !

आगे कहती—फिर कहती, कहानी—कहानी, कहानी ही होती है, न कम न ज्यादा। मेरी भी कहानी वैसी ही है। धैर्य से सुनना यही भीख मांगती हूँ।

मैंने कहा 'कहानी सुनाओ' उन्होंने प्रारम्भ कर दी। सुनने लगी, सुन रही हूँ, आगे भी सुनूंगी। कैसे खत्म होगी और कहां, कहानी कहने वाली जाने।

जो लेखनी कहे, 'मैंने कही' तो उसकी भूल है। पर भाव, परम चैतन्य की बात, क्षुद्र चेतन भाव ग्रहण तक करने में जब असमर्थ है, तो उसके कहने का साहस कैसे करे। जड़ को चैतन्य करता, ऐसा है मेरा स्वामी। तुम ही न्याय करो, क्या यह बांस की लेखनी यह कहने में समर्थ है। यह कहानी।

हम तो निमित्ति मात्र हैं। यश देना उन्हें सुहाता है। जो भक्त 'वाह' कह देते हैं। यदि किसी परम भागवत के हाथ पड़ गई तो उसने आंख से लगा, दो आंसू बहा, आह खींची—मुझ भिखारिनी की झोली भर गई।

(१)

'प्रतीक्षा'—विधाता ! ऐसा कठोर शब्द क्यों रचा था—'प्यारे के मिलन की प्रतीक्षा-कब तक ?' यदि रचा था तो इसकी अवधि भी निश्चित कर दी होती। नहीं तो, ओ वेदवेत्ता चतुर्मुख ! तुम ही बताओ, मैं कब तक 'प्रतीक्षा' करती जीऊं ?

पर ठीक ही है। मैं समझ गई। तुम करते भी क्या ? शब्द लाते भी तो कहां से ? कालातीत का विरह भी तो काल की पकड़ से बाहर है। सो कह दिया, हां ! प्रश्न के उत्तर में कह दिया —उसी प्रश्न के उत्तर में 'प्यारे दर्शन कब दोगे'—'प्रतीक्षा' किए जा।

आशा ले कब तक जीऊं ? सब ही तो विमुख हो चले हैं। स्वांस कहते, कब तक चलें ! नेत्र कहते, कब तक न झपकें ! श्रोत्र कहते, मुरली की मधुर ध्वनि कब तक न पान करें ! जिह्वा कब तक नीरस रहे। सब ही को तो अब तक आश्वासन दिला जीवित रखा था। 'वे आयेंगे, अवश्य आयेंगे बस एक बार, बस एक बार !'

पर धीरज की भी तो सीमा होती है। कब तक कोई आशा ले जीये। नीरस जीवन ले तपे। परवश है, करे भी क्या ? उन पर क्या ज़ोर।

'आह का ज़ोर'—तुम कहती। कितनी सर्द व गर्म आहें खींच चुकी। रात्रि में, दिन में, सभी ही समय ! पुकार चुकी, रो चुकी, तड़प चुकी, पर वह न आये। क्या वह न आयेंगे। और इन आंखों को खुला छोड़, इनके वर्षों के संगी प्राण यों ही निकल जायेंगे।

\+ \+ \+ \+

(२)

बलि २ जाऊं तेरे ! आ मेरे संगी ! फिर पुकार । इस अन्धयारी रात में । बस एक बार वही मधुर व्यथित पुकार ।

'पी कहां !' बस एक बार । हां एक बार ।

पहीहे ! तू क्यों चुप हो गया ? मुझ अबला को उस ध्वनि का अधिकारी न जान । ठीक ही है । हां शांत हो जा, शांत । इन उड़ते प्राण-पखेरू को दीपक न दिखा । यह भटक लौट आयेंगे । जब कोई विरही न मिलेगा, फिर मेरे शिथिल पिंजड़े में 'आन फंसेंगे । हां न बोल, वह मधुर पुकार, पी कहां, पी कहां' !

मैं अनाधिकारिणी हूं । पूर्ण अनाधिकारिणी ; शपथ खाकर कहती हूं । तू मत लुटा, मुझे मत सुना, वह बहुमूल्य महामंत्र । जिसका तू निरंतर जाप करता है । 'पीं कहां, पी कहां ।'

मैं भिखारिन हूं । फिर कैसे खरीद पाऊंगी यह नाम रत्न । जो तू निरन्तर लेता है । निर्धन मैं अपनी ओर निहार दुःखी होती हूं । न पा सकूँगी, यह दुर्लभ पुकार, 'पी कहां, पी कहां' !

बलि बलि जाऊं ओ विरही पपीहे ! दया कर ! बताता जा मुझे, कैसे पुकारू मैं 'पीं कहां,' बस एक बार, हां एक बार ।

(३)

कल्पों पुरानी बात है । जब तुमने सृष्टि रची थी । इन्द्र ऐसे राजा और मुझ ऐसे रंक बनाये थे । ब्रह्मा, रुद्र, वरुण सब ही देवता ऐश्वर्य पा फूले न समाये थे । मुझ निर्धन को भिखारिनी देख वह मुस्काये थे । मैंने नीची आंखें करलीं थीं । पांव की उंगलियों से पृथ्वी

पर कुछ लिखने लगी थी। मेरी और तुम्हारी दृष्टि गई थी। तुम्हें दया आई थीं। 'तुझ को भी दी।'—शब्द सुन सब ही तुम्हारी ओर देखने लगे थे। सबही मूक हो सोच में पड़ गये थे। विचारने लगे थे, क्या 'मुझ ही को देवाधिदेव की पदवी दी'—तब सब ही को संतोष हुआ, जब फिर कहते सुना, 'अपनी दाह'। 'आज से तू मेरी कैदी हुई।'—

'प्यारे की मैं कैदी आज से हुई'—सुन मुझे रातों नींद न आई। मारे खुशी फूली न समाई। अपने भाग्य कैसे सराहूं। जिसकी निरंतर देख-भाल मेरे स्वामी को कैदखाने में बैठ करनी पड़े, कि कहीं उसका बंदी भाग न जाये उस कैदी की क्या महिमा न गाइये।

चतुरानन ऐसे चतुर बुद्धि वाले न समझे, तुम्हारा मर्म! जब तुम कैदी बन गये। हां मेरे कैदी। मेरे साथ इस मेरे हृदय मन्दिर में बंद हो गये।

किसी को कैदी बनाना आसान नहीं है। खुद कैदी बनना पड़ता है। फिर तुम काल की पकड़ से परे—तुम्हारी कैद की अवधि नहीं। जब मुक्ति तुमसे बाहर हो, तब ही तो मुक्त कर सको। फिर कैसे मुक्त हो, कहां जाओ? जब तुम से बाहर कुछ नहीं। आहरी! मेरी कैद! जिसने मुक्ति को भी कैद कर दिया। मुक्तिदाता को भी बंदी बना रखा है। हां सदा के लिये, सदा के लिये। प्यारा मेरा कैदी है। मेरे हृदय मन्दिर में बंद है। मैं प्यारे की कैदी हूँ। उसके रचे बंदी खाने में बंद हूं।

(४)

प्यारे! क्या तुम दुःखी हो? क्या कैद तुम्हें नहीं सुहाती? हां मेरे साथ इस तरह बंद रहना नहीं भाता। तो जाओ तुम्हें मैंने मुक्त किया। जाओ तुम आज से स्वतंत्र हो। जाओ मुझ से दूर जाओ।

पर यह क्या ? संकोच कैसा ? क्या नहीं जाते। क्या नहीं जा सकते ? मेरा संग तुम्हें ऐसा भाने लगा। जो कैदी बने रहना ही भला लगता है।

बताओ तो, ओ मुक्तिदाता ! सबको मुक्त करने वाले ! किस मेरे गुण पर मोहे हो जो मुक्त होना त्याग मेरे हृदय के बंदीखाने में बंदी बने पड़े हो। कहने पर भी नहीं जाते। देखूं तो तुम किस चीज में उलझ गये हो।

मुझ को तो कुछ भी ऐसी बहुमूल्य वस्तु, जो तुम्हें प्रिय हो, दिखाई नहीं पड़ती। हां मैंने सब ओर खोज डाला। कुछ भी तुम्हारे को फंसाने वाली वस्तु न पाई। पर तब भी तुम आंख गढ़ाये उस हृदय-कोण की ओर टिकटिकी लगाये देख रहे हो। मानों उसे यदि कोई वहां से उठा ले तो तुम निर्धन हो जाओगे। हां इन्द्र व ब्रह्मा के बनैया, स्वर्ग व पाताल के रचैया, तुम उसके खो जाते ही फकीर हो जाओगे।

मैं भी चलूं, देखूं। हैं तुम्हारी आंखें क्यों भरी आती हैं, ओ पुरुषोत्तम ! ज्यों २ मेरा क़दम उधर उठता है।

मैं निकट पहुंची, तुमने दो आंसू ढलका दिये। मैंने हृदय से लगा ली उठा के वहां से—मेरे हृदय-मन्दिर को प्रकाश करने वाली—वही—हां वहां से—तेरी प्यारी वस्तु। हां—वही, 'तेरी चाह।'

(५)

भाव, भावमय, भाव स्वरूप होने पर ही अनुभव होता है। इस रूप से ही रसिक बनता है। रस पान कर रसमय होता है।

अँधियारा क्या जाने प्रकाश का स्वाद। प्रकाश जब उसका चुम्बन करने को बढ़ता है, एक ही आलिंगन, एक ही स्पर्श में वह अपना रूप खो बैठता है। प्रकाश रूप हो जाता है।

प्यारे! क्या तुम यह न जानते थे—'कैदी बनाना ही कैदी बनना था।' क्या तुम न जानते थे, तुम्हारी सृष्टि का यही नेम है। भृंगी कीट को कैदी बनाने चलती है—क्या होता है—कब तक कैदी स्वयं बन बन्दीखाने के दरवाजे पर बैठी चौकसी करती रहती है। कब तक। जब तक कीट कीट नहीं रहती, भृंगी ही भृंगी होती है। कब तक। जबतक स्वरूप भेद नहीं मिट जाता। एक नहीं हो जाते।

प्यारे! चाह कठिन है। 'अपनी चाह' —तुम कैसे दे बैठे? ओ मुक्तिदाता! अपनी स्वतंत्रता त्याग कैदी क्यों बन बैठे? चाहे कितना ही सुसज्जित मेरा हृदय-मन्दिर, कितने ही सुन्दर व्यक्ति—आह, आंसू, तड़प, सिसक वहां विराजमान थे और उनका परम प्रिय मित्र विरह ही क्यों न वहां शासन करता था, पर कैदखाना आखिर कैदखाना है।

देखो ना! अब लगे डोलते—फिरते, 'अपनी चाह' दे, इन चाहने वालों के पीछे। सत्य के उपदेशक, फिरते हो मां तक से झूठ बोलते।-'मां! ग्वाल-बाल सब बैर बांध्यो। बरबस मुख लिपटायो'- तुम ही सच बताओ, क्या तुमने गोपी का माखन न चुराया था?

ओ मन्दिर व मस्जिद में पूजित! आज क्या शोचनीय तुम्हारी दशा है; जो फिरते हो भक्तों की चरण-रज ढूँढ़ते। [हां—यह सब क्यों—इसीलिए न, कि कैदी बनाने निकले थे। 'हां अपनी चाह' की बेड़ी पहनाने और बन गए खुद कैदी।

ओ रसिक शिरमौर ! छलका दे जरा सी बूंद इस ओर भी, अपने छलकते हुए पैमाने से, उस मदिरा की जो तू कैदी बन नित्य ही अपने चाहने वालों के हृदय मन्दिर में विराजमान हो पान करता है !

मैं बलि जाऊं !

(६)

यह क्या स्वामी ! अपने कैदी के सामने सम्राट को आंचल फैलाना नहीं सुहाता । कोई देख लेगा तो क्या कहेगा !

यह क्या प्यारे ! तुम भिक्षा के लिए क्यों हाथ बढ़ाते हो ! स्वामी को दासी के सन्मुख; यहभाव नहीं अच्छा लगता क्या कहेगा कोई ।

नहीं, नहीं-यह क्या ! यह आंसू क्यों ! यह चरण की ओर दौड़ना कैसा ! स्वामा ! यह क्या, यह क्या, बस बस······'

कहती विरहिनी मूर्च्छित हो गिर पड़ी ।—

(७)

प्यारे की आंख मिचौनी—कैसा गुह्य रहस्य—कैसा गम्भीर मर्म—कैसे समझ में आवे ।

'प्यारे की खोज में'—केवल यही एक दीपक था जो अपने अंधियारे जीवन में पा, वह चली थी । उसकी खोज में ।

'प्यारे की चाह'— यही एक अवलम्ब था—उसके झुके जीवन को सहारा देने वाली एक मात्र लाठी थी······

और आज वही उसका 'एक मात्र सहारा'—हां वही चाह—भिक्षु बन प्यारा उस से मांग बैठा—न देती, कैसे साहस करती–देती तो कैसे जीती—

हां वह मूर्च्छित हो गई। अपने जीवन 'प्यारे की चाह'—का वियोग न सह सकी।

तू कैसा दानी है, ओ नाथ! ओ मोही! तू कैसा ईश्वर है। दी हुई वस्तु भी कोई वापिस माँगता है। और फिर उसे पा जब किसी ने उसे अपना जीवन बना लिया हो।

ओ करुणासागर! करुणा त्यागी थी, तो क्या साथ साथ न्याय भी खो बैठे!

तेरी बहस यहां न चलेगी। उसके पास गवाह हैं। आह है—तड़प है-सिसक है। सब ही कहेंगे; हां हमारी महारानी—विरह—को हम दासियों के संग स्वामी ने दान किया। तब ही से हम अपनी रानी के संग उसके हृदय–मन्दिर में बिराजे। तब ही से वह 'विरहिनी' कहलाती है।

'मेरी चाह'—'मेरी चाह'—तुम लाख पुकारते डोलो। कैसे दे डाले तेरी चाहने वाली 'तेरी चाह'। अपना जीवन 'प्रीतम की चाह' कैसे दे डाले विरहिनी। अपने प्रकाशमय जीवन में एक बार प्रकाश पा कैसे दे डाले वह दीपक। अंधियारा किसको प्रिय है?

दान किया था, तो विचार लेना था। क्या इन करोड़ों ब्रह्माण्डों में कुछ रहा ही नहीं, जो तुम इस 'अपनी चाह' की खोज में जिस तिस की विनती करते फिरते हो।

जीवन ही सबको प्रिय है—सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। क्या यही तुम्हारा जीवन है ? तो क्या तुम्हारा जीवन, तुम्हारे चाहने वालों के पास धरोहर रखा है ? पर जीवन बिना तुम जीवित कैसे हो ? हां अब मैं जान गई, तुम साथ ही साथ अपने चाहने वालों के बंदीखाने में धरोहर हो।

तुझे कहां कहां न खोजा, पता न चला। आज पता चला तू कहां रहता है, तेरा घर कहां है।

वहीं ना ! तेरे चाहने वालों के हृदय—मन्दिर में। विरहिनी के हृदय-मन्दिर में। अब मेरे जीवन ! मेरे प्राणाधार ! तुझे मैं खोज निकालूंगी—कहां—वहीं·········

मैं चल दी उस पथ पर—शीघ्रता से चल दी—किसी की खोज·······हां—

तेरी विरहिनी की खोज में।

(८)

तू ही हमको पथ दिखलाता है। पास बुलाता है। गले लगाता है। यही नहीं, रोता है—रुलाता है। तड़पता है, तड़पाता है।

क्यों किसलिए—केवल इसीलिए ना, तू भक्तवत्सल है। नहीं नहीं, और भी एक कारण है। "तू बड़ा दानी है। क्या तू अपने ही को नहीं दे डालता। उससे भी अधिक देता है। अपना जीवन दे डालता है। फिर कैदी अपने चाहने वालों का बन सदा के लिये उनके

हृदय के बंदी खाने में आन विराजता है। नहीं नहीं चोर बन फिर अपनी दी हुई वस्तु की खोज में लग जाता है। भिखारी बन हाथ पसार अपने चाहने वालों से उसे आंचल फैला मांगने लगता है। जिसको दे तू भिखारी हो गया, उसका मूल्य जान उसकी खोज में चल पड़ता है। ऐसी है, यह 'तेरी चाह'।

'तेरी चाह' ले ही तेरी निर्धन चाहने वाली धनवान हो जाती है। एकान्त में बैठ सेती है। निद्रा नहीं आने देती कहीं उसे खो न बैठे। इस लम्बे जीवन की घड़ी उसी के सहारे वह निमिष में काट देती है। आंसू को तेल बना उस दीपक को प्रज्वलित रखती है। ऐसी है 'तेरी चाह'।

तू दिया हुआ मांगने में नहीं लजाता। कृपण कहलायेगा, इसकी परवाह नहीं करता। और हाथ पसार बैठता है—मांग बैठता है अपने चाहने वालों से, वही अपनी चाह। यह भी तो नहीं सोच सकता कि अनेक ब्रह्माण्डों का साम्राज्य रखते हुए जब तू नहीं जी सकता, तो कैसे जीयेगी तेरी निर्धन विरहिनी। जिसका बल, धन केवल वही है, एक मात्र 'तेरी चाह'।

पर वाह री विरहिनी! तू धन्य है। तू कैसे अपने स्वामी की पसारी झोली खाली रहने दे।

'प्यारे ले'—यह कह तू दे डालती है··· और साथ ही साथ अपना जीवन········

(विरहिनी मूर्च्छित हो स्वामी के चरणों पर गिर गई।)

४—प्यारे की लगन—

प्रिय बहन !

विरहिनी की खोज; आत्मा की खोज, जीवमात्र की खोज है। जब भी ठेस लगे। जब भी हृदय बह चले।

कब वह शुरू होती है। कहां से। कहां को। उसका तो कोई नेम न सुना, न मालूम।

आग है—यह लगन—जब ही लगे संसार फूंक दे। और यात्रा पर आरूढ़ कर आप अन्धारे जीवन में दीपक बन पथ दिखाती चले।

'प्यारे की प्यारी' की खोज करेंगे। अवश्य करेंगे। ज्योंही उनका आदेश मिला, तड़प जागी, विरह ने सोया जख्म जगाया और हम चले। हां हम और तुम। भला कहां—

प्यारे की प्यारी की खोज में।

इस बीच धैर्य। उस सफर को जो कर चुके, सुनो उनका हाल कहती हूं।—

(१)

पेड़ की ओट में छिपा पुजारी यह अपने ठाकुर की लीला देख रहा था। मूर्च्छा से चेतन्य हुई विरहिनी से जाकर पूछने लगा: 'तू तो मर गई थी।'

'प्यारे का मारा मरता नहीं।' 'जीवन' में मृत्यु की छाया नहीं। प्यारे के लिये जो पल पल मरता है, वही जीता है। यों तो जगत ही मरता है, कौन जीता है। जो जगत में मरता-जीता है वही मरता है; जो मेरे प्रभु में मरता है, वह तब भी जीता ही है, सदा ही जीता है।

प्रकृति के अंजन लगाये नेत्र उस जीने को देख नहीं सकते। भला प्रभु के हाथ में रह भी कोई मरता है। तब भी मूढ़ कहते हैं, जटायु ने प्रभु के जीवन दान देने पर भी मृत्यु स्वीकार की! प्रभु की वाणी को जटायू ही समझा। 'जीवित वह अमर जीवन की गोद में बैठा, किस जीवन को फिर वह मांगता। प्रभु भक्त की सदा परीक्षा लेते हैं, वह उत्तीर्ण हुआ'।

(२)

'किधर हैं, मेरे प्यारे के प्यारे। मेरे भव से न डरने वाले।' बता दे! 'कहां रहते हैं वह तप हीन, बलहीन, भिखारिनी को गोद में बैठा आंसू पोंछने वाले'—वह कहने लगी।

'मेरी परछांई तुम्हारे स्वच्छ वस्त्र पर न पड़ जाये। मेरी श्वांस तुम्हें स्पर्श न कर ले! हां दूर ही रह, दूर! ओ पुजारी!' वह बोली—!

'मुझ दुखिया का दर्द बांटने वाला ! ओ साँवरे ! क्या कोई नहीं'। 'विधाता चूक पड़ी अब मैं जानी............'

'है ! अवश्य है ! ओ मन्दिर में बैठे मूक भगवान ! मैंने तुझे मुस्काते देख लिया। "है, अवश्य" कहते सुन लिया।'

'फिर तू अब मन्दिर पट क्यों नहीं खुले रहने देता। क्या अपने की आज्ञा भी नहीं मानता।'

दुराता है, ठुकराता है, तो मैं जाती हूं। तृषित जाती हूं, व्याकुल जाती हूं। अपने भगवान के विरह को साथ ले जाती हूं। ले तू अब संभाल पुजारी ! अब तू संभाल ! उस सिंहासन पर विराजमान अपने भगवान को संभाल..............संभा..........(कहती विरहिनी गिर पड़ी......पुजारी डर गया। मन्दिर के पट बन्द हो गये।)

(३)

मुसाफिर ! गठरी संभाल ! राह रपटीली है। कांटे हैं, रास्ते में, नदी और नाले। पहाड़ हैं पहाड़। तेरी यात्रा कठिन है।

'और फिर न तेरे साथ संगी न साथी ! इतना सामान लाद अकेली क्यों निकल पड़ी ....।'

'पर ठीक है। उनका त्यागना योग्य न था। तूने ठीक ही किया जिन्होंने जीवन भर तेरा साथ दिया, भला उन्हें कैसे त्यागती। अवश्य साथ ही लेकर चलना था। यह बोझ साथ ही लेकर चल। इस विरह, इस तड़प, इस आंसू को साथ ही लेकर चल।'

'प्रभु तेरा कल्याण करें।'

(४)

कैसा प्रभु ? जो मेरा कल्याण करने का दम भर रहा है। तू क्या कहता है पुजारी ! कहां रखूँ तेरा आशीर्वाद। मेरे रोम रोम तो भरे हैं। तू अपनी चीज़ आप संभाल।

हां रोम रोम में व्याप रहा है—'विरह'। उसको पा मुझे और कुछ न चाहिये। वही मेरा जीवन, मूर्तिमान आशीर्वाद है। राह का तोषा है। इसे पा न राह की थकावट, न भूख, न प्यास मुझे कुछ भी नहीं सताती। न प्रमाद ही घेरता है। जहां यह चौकीदारी करे, चोर कैसे आये। तुझे कैसे बताऊं यह कैसा चैतन्य है। मुझ ऐसी जड़ को भी जिला रखा है। ओ पुजारी ! मुझे तेरे किसी भी प्रभु की आवश्यकता नहीं। यही तेरे प्रभु का जीवन है।

(५)

नाहक इससे अटकी। यह न सोचा मैं क्या कह रही हूं, किससे कह रही हूं। यह मूढ़, परम रहस्य को मुझ पगली विरहिनी की बक समझा। तभी तो कहता है, 'तेरा विरह मेरे प्रभु का जीवन है।'

ओ 'तेरे' 'मेरे' चश्मे से देखने वाले मूढ़ ! सत्य द्वंद रहित होता है। कृष्ण राधा और राधा कृष्ण हैं। दोनों में भेद नहीं। संयोग वियोग रूपी पट का आनन्द लेने को ही रुई ताने बाने में परिणित होती है। कृष्ण ही से राधा कृष्ण हैं। लीला की चादर हटी और

कृष्ण ही कृष्ण हैं। विरहिनी राधा की चादर ओढ़ी और राधा कृष्ण हैं। कैसी आनन्दमय लीला है। विरह ही कृष्ण का जीवन है। राधा ही कृष्ण का जीवन है। लीला से वंचित कृष्ण केवल कूटस्थ, ज्ञाना-नन्द, ब्रह्म ही हैं। जो सुख चाहे तो विरह पूज। विरह ही जीवन है।

'किसका········' विरहिनी के कान में शब्द पड़ा। पीताम्बर का छोर झलका, हंसी की आवाज़ आई······आवाज़ आई······

गिरती हुई विरहिनी के मुख से निकला 'तेरा'। पुजारी पुजारी न था, तू ही था; हां तू ही था—ओ चित्तचोर तू ही था।

(६)

'हैं, तुम कहां? इस बन में। अकेली पृथ्वी पर पड़ी हो।' गोपिका ने विरहिनी को गोद में लिटा प्रश्न किया।

'अकेली' तो नहीं हूं—आकुल प्राणों को ले पड़ी हूं। 'अकेली' तो नहीं हूं—व्यथित हृदय को ले पड़ी हूं 'अकेली' तो नहीं हूँ—अधीर जीवन को ले पड़ी हूं।

वन में तो नहीं—पृथ्वी मय्या की गोद में पड़ी हूँ। पर हां 'वन' में पड़ी हूं। तपते 'वन' में पड़ी हूँ। प्रियतम जहां नहीं, उस अंधियारे वन में पड़ी हूँ। व्याकुल पड़ी हूं। दिल मसोसे पड़ी हूं। किसी की याद लिए पड़ी हूं। आशाओं का गला घोंटे पड़ी हूं। एक प्रियतम के मिलन की चाह ले मैं मृतक समान पड़ी हूं। हां इस वन में पड़ी हूं। 'अकेली' पड़ी हूं। कब आवेंगे प्रियतम—हाय

प्रियतम ! कब से मैं दुखिया टिमटिमाती आशा लिये पड़ी हूं । न आओगे श्याम ! मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा में पड़ी हूं । अकेली पड़ी हूँ । केवल तुम्हारे मिलन की आशा लिये पड़ी हूँ । फड़फड़ाना ख़त्म कर, शिथिल हो पड़ी हूं । क्या क्या तमन्नायें लिए पड़ी हूँ । क्या तुम न पूरी करोगे । इस मेरे जीवन में यदि पूरी न करना था, तो क्यों राग छेड़ा था । जो न आना था, तड़पाना था, रुलाना था, तो क्यों विरह मेरा जीवन बनाना था । भिखारिनी बना वन बन भटकाना था । दर दर ठोकर खिलवाना था ! ········मैं मर जाती, मर जाने देना था । हाय ! यह तुमको न करना था । मेरे दर पै आई मौत को न लौटाना था ।

देखते क्या हो ! तुम्हारी करनी मुझसे नहीं छिपती ओ छलिया ! मुझे सब याद है । खूब याद है । मुझे याद है, तुम्हारा मुझे तड़पते छोड़ कर चले जाना, मुझे खूब याद है । मेरा पुकार पुकार हार जाना और तुम्हारा ख़ाक उडा आवरण डाल छिप जाना, मुझे खूब याद है ।

याद है, मुझे खूब याद है । आंसुओं की माला पोना, मुझे याद है । तुम्हारा पहनने को मस्तक नवाना मुझे याद है । हर्ष से प्रेम के आंसू आ, मेरी आँखों के सामने तिमिर का छाना खूब याद है । अँधियारा आना खूब याद है । तुम्हारा अदृश्य हो जाना हां मुझे याद है । तड़पता मुझे छोड़ जाना याद है । याद है, याद है, श्याम ·····

(७)

'धीरज धरो, प्यारी ! मेरी विरहिनी ! यह व्याकुलता प्राण न हर ले जाये । शान्ति, शांति······' गोपिका की बात काट विरहिनी बोली—'तो क्या यह प्राण अभी बाक़ी हैं । निर्दयी, निर्लज्ज यह अभी

बाक़ी हैं। मेरा स्वमी चला गया, मुझे बिसरा चला गया, मेरा सर्वस्व चला गया। इस पिंजड़े में अब क्या बाक़ी है, जिसकी चौकसी करने को यह बाक़ी हैं।

ओ मूढ़! तुझे मैंने क्षमा किया। सब पापों का प्रायश्चित कर अभी जा, उसकी खोज में जा, चरण-चिन्हों को देखता जा, इन आंखों को साथ लेता जा, राह में बिछाता जा, नमस्कार करता जा, प्यारे की खोज में जा, सांवरे का स्मरण करता जा'—!

जो पूछें क्यों आये—लजा जाना—आंसू भर लाना—व्याकुल हो जाना—आहों का तूफान खड़ा कर देना—तड़पना, आकुल हो कहना, पाप का प्रायश्चित करने आया हूं। विरहिनी का भेजा आया हूं—स्वामी! क्षमा मांगने आया हूं। इन चरणों पर उपहार बन न्योछावर होने को आया हूं—विरहिनी का पठाया आया हूं।

जा,—ओ मेरे अपराधी प्राण! तू जा—हां प्यारे की खोज में जा—मेरे सांवरे सलोने श्याम को ....

(८)

'जीवन' कैसा सुन्दर शब्द है—संसार इसके लिये मरता है। संसारी मरें तो मरें—भोग प्रिय सब को ही होते हैं, कैसे त्यागें!

पर महात्मा भी तो उस जीवन पर जान न्योछावर करते हैं। यदि और जी सकें। क्या क्या जप, तप, संयम, साधन, युक्ति उसके लिये नहीं करते हैं। व्रत, अनुष्ठान करते हैं। ऐसी मोहनी है, जीवन की आशा'।

और एक मैं विरह की मारी, सब से कहती ले लो यह मेरा जीवन। पर कोई पूछता ही नहीं। मृत्यु भी हाथ बढ़ाते घबराती है।

मैं भी तो देखूँ, यह संसार-प्रिय मेरे स्पर्श से, मेरे संग ऐसी दूषित क्यों हो गई! जो अब सब इसको देने पर भी लेने से घबराते हैं।

पर नहीं—इन प्राणों को श्याम सुन्दर के पीछे भेजा था। वह तो न घबराये। चलते २ रुक गए। आँखें भर लाये। सत्कार दिया। संसार को अप्रिय, मेरे स्वामी को वह क्यों प्रिय लगे। उनमें उन्होंने क्या देखा, जो संसार की आँखों से अदृश्य था।—वही—क्या तुम नहीं जानतीं! वही, प्यारी गोपिका वही:

'प्यारे का विरह'।

(६)

प्यारे को 'अपना विरह' बड़ा प्रिय है। उन सुख के सागर, ऐश्वर्य व माधुर्य के भंडार को सब ही तो प्राप्त है। यदि उनके पास नहीं है, तो केवल यही—अनन्य भक्त शिरोमणि का विरह।

अप्राप्त वस्तु सब ही को प्रिय होती है। और यदि वह अपना पूरा शृंगार कर निकले तो कौन अधीर न हो जायगा"......

मूर्तिमान हो जब वह, आंसू, ताप, व्याकुलता, कसक सब को गोपी रूप धारण कर चलती है—नहीं वन में, क्वासि कृष्ण!'—'कहां है मेरा प्रियतम—किधर गया मेरा चित्तचोर'—कह विचरती हैं—कौन?—वही, मेरी मैया, 'श्री राधे'—वृक्ष पक्षी सब ही चतन्य हो मां के चरणों की रज धारण कर झुक जाते हैं! ......

ब्रज की लता, ब्रज के वृक्ष आज तक झुके हैं। उस विरह की महारानी के चरण-स्पर्श की इन्तज़ारी में—!

मां ! क्या तुम न आओगी—मां—मां—मेरी मां ....

(१०)

जीवन को पहेली बनाये बिना कोई कैसे जीये। कुछ तो 'वे' जीना संभव है। चारों तरफ कितना सामान बिक रहा है! तड़प' कसक, विरह, दुःख, व्याकुलता ! कुछ भी ले लो। उसमें उलझ जाओ —बस जीवन मिल गया—उसे ले जिया करो जन्मों।

गुप्त रहस्य कोई बताया नहीं करता, पर तुम बहुत दिन से यह चौखट छे के बैठे थे। पल्ला छुड़ाना भारी हो गया। सो उपदेश कर दिया। अब इसे अच्छी तरह गठिया लो। मंत्र है, महामंत्र, परम पवित्र साधन है। जहां इसे साधा और काम बन गया। और लक्ष प्राप्त हो गया। परम लक्ष मिल गया। वह तो तुम जानते ही हो क्या—देखते हो मानो जानते ही नहीं—सो सुन लो फिर से उसका नाम, 'श्याम'.........!

क्यों तुम कांप क्यों गये ? क्या इसकी शीतलता न सह सके! हैं तुम उछल क्यों पड़े ? क्या इसकी ताप न सह सके !

हां यह ऐसा ही है। ताप व शीतलता दोनों ही तो इसमें भरी हैं। उसका विरही तभी तो कभी हंसता कभी रोता, कभी नाचता कभी शांत बैठता है।

ना ! ना ! 'रोग' नहीं है। पर हां विचित्र 'रोग' है। जिसके

अंतर में औषधि, अचूक उस रोग को नाश करने वाली छिपी है।

नाम कैसा विचित्र, कैसी प्यारी वस्तु है। जिसे वियोग प्रिय वह इसे जपता, जिसे संयोग सुहाता वह इसे रटता—ऐसा है यह नाम—भला कौन सा—वही 'श्याम' !

(११)

'राधे, श्री राधे'—हैं—मेरी मैय्या को कौन इस एकान्त बन में पुकार रहा है। मैं भी चलूं, देखूं यह मुझसे ईर्षा करने वाला कौन है ? चलूं उससे लड़ूं।

हैं ! यह कौन ? 'पपीहा' ! तूने 'पी-पी' कहना कब से त्यागा ?

'पी' को जब से 'राधे राधे' पुकारते सुना—बलिहारी ! मेरे गुरुदेव ! बढ़ाओ अपने चरण कि इन अश्रुओं से अभिषेक करूं। आओ आगे कि इन केशों से चंवर कर लूं। क्या उपहार दूं तुमको, मेरे पास इस महामन्त्र की दीक्षा पा अब कुछ भी भेंट करने को न रहा।

जो नाम स्वामी का जीवन हो। जिसकी वह निरंतर रट लगाते बन में, काटों में डोले। दिन-रात पागल से 'राधा-राधा' कहते घूमें। वह प्रिय नाम जो जड़ को चैतन्य करे, पक्षी को मोह ले, केवल मात्र वही मेरे स्वामी को एक मात्र वश करने में समर्थ है। अब तो अपने स्वामी को वश करने की युक्ति पता लग गई। कृष्ण के जीवन—विरह—का जीवन अवलम्ब—यह नाम—'राधा'-मिल गया।

बस मौन—ठीक ही है। परम रसिक और ब्रह्मवेत्ता श्री शुकदेव

जी सब रहस्य बता भी, इस गुप्त मन्त्र को कहते संकोच कर गये। केवल कहा 'रा……' और चुप हो गये। सो मैं कैसे सब कुछ कहूं- सो अब आगे मौन !

५--चतुरानन तेरी ! चूक।

प्रिय बहन !

'मोहन सों प्रीति करके,

कहो कासों बोलना'।

मीरा ने कहा—

संसार से मौन हो गई—और लगी प्यारे से करने बात।

बात बहुत छोटी थी—बात बहुत लम्बी थी! कहानी खत्म ही न होने में आती थी। आती भी कैसे—क्या वह न थी प्यारे की बात—

प्यारी कहती गई—मैं पेड़ की आड़ में छिपी सुना की—तुम अधीर न हो, जो सुना, सुनाती हूं।

(१)

बहन ! तुमने ही तो कहा था, 'दर्द से ही जीना संभव है'। एक साधन से ही वह साध्य सधता है।

तुम्हारा उपदेश पा—वही—

'मन्मना भव'

उसको इस हृदय में ध्यान का जाल बिछाये कैदी बनाने को छिपी बैठी हूं। हां उसी दिन से·········

'बड़ा छलिया है—'तुम कहतीं हो—हुआ करे—मेरा 'विरह' भी बड़ा रसिया है।

'कौन ?'

क्या न बता चुकी उसका नाम—तो फिर सुन, इधर आ, पास कान ला—बस एक बार बताऊंगी—उसका नाम—सुन—······ 'राधा'—

(२)

यह क्या ! तू लड़खड़ाने क्यों लगी !

पर ठीक है—मंत्र में शक्ति होती है। फिर यदि महामंत्र हो, तो कहना ही क्या ! शुकदेव ऐसे परम भागवत ने जिसे जपा—नहीं, नहीं मेरे स्वामी का नित्य निरंतर जपने वाला मंत्र—उसकी महिमा कैसे कहूँ ? बस जा— जपे जा 'श्री राधे' और विचरे जा वृन्दावन में। तुझे मिल जायेंगे गिरधर नागर— तेरे जीवन का गीत पूरा हो जायेगा- सखी ! विश्वास कर— श्रद्धा ही एक मात्र इस नाम का भूषण है।

(३)

'स्वामी ! अब आके कहाँ जाते हो ? क्यों जाते हो ? छोड़े जाते हो ! इस अंधियारे जीवन में दीपक जला कर न बुझाते जाओ! प्यारे ! न बिसराओं ।'

"पगली ! तू यह क्या कह रही है।" गोपिका ने विरहिनी की चेतन्य सहज समाधि भंग करदी । "क्या स्वप्न देख रही है?" यह प्रश्न सुन अपनी धुनि की पक्की विरहिनी ने अपने टूटे राग का तांता जारी किया ।

'स्वप्न था । जो देखा स्वप्न था । तो हाय ! वह क्यों छूट गया । मैं क्यों न सोती ही रह गई । स्वप्न देखती ही रह गई ।

स्वप्न में तुम आये । यह कैसा आना । आकर फिर कैसा जाना । प्यारे विरहिनी को यह आना—जाना नहीं सुहाता ।

स्वप्न में तुम आये—कितनी प्रतीक्षा के बाद—कठिन परीक्षा के बाद । स्वप्न बन आये ; मेरे स्वप्न मय जीवन में आये । हाय ओ चित्त—चोर ! तुम वह मेरा जीवन—वह स्वप्न भी मुझसे छीन कर ले गये ।'

अब कैसे जीऊं—क्या लेकर जीऊं—कब तक जीऊं—क्यों जीऊं ?

'मेरे लिये'—मैंने सुन ली तेरी बात—जीऊंगी, तेरे लिये जीऊंगी—तेरा ध्यान ले जीऊंगी—अवश्य जीऊंगी—बहुत जीऊंगी—सदा मौत को प्यार करने वाली मैं जीऊंगी ! हां बहुत जीऊंगी—तेरी प्रतीक्षा में जीऊंगी—निराशा में तेरे मिलन की आशा ले जीऊंगी—

यही मेरे स्वामी का आदेश है—मैं जीऊंगी—!

(४)

वे आये, वे चले गये —मुझे याद है। और जाते समय शोखी से अपने चरण-चिन्ह मिटाते जाना मुझे याद है।

वह मोहनी मूरत मुझे याद है। वह त्रिभंगी अदा से कदम्ब का सहारा ले खड़े होना मुझे याद है।

वह मोर मुकुट, वह लकुटी और वह कंधे की काली कमरिया सब मुझे याद है।

पीताम्बर के छोर का हवा में उड़ना—मुझे याद है। वह बंसी की मधुर तान और यमुना का किनारा मुझे याद है। खूब याद है। उस मधुर मुस्कान से मेरा दिल छीन ले जाना मुझे याद है।

मेरी आशाओं का चूर्ण होना—मुझ पर निराशा का पहाड़ टूट पड़ना—स्वामी मेरे! व्यथित हृदय को बिलपता छोड़ जाना—और अदा से मेरी सब उम्मीदों को ठुकरा जाना—स्वामी! फिर मुंह फेर के—ओ चित्तचोर! अपनी गठरी सम्भालते तेरा जाना मुझे याद है, खूब याद है।

स्वप्न में तेरा आना—और मुझे जगा कर 'हाय कृष्ण!' की सामग्री देकर चले जाना मुझे याद है।—'फिर भी कभी आना'—मेरा प्रार्थना करना और तेरा कनखियों से संकेत कर सुनी अनसुनी कर चले जाना मुझे याद है। तेरा चला जाना, मुझे इस बन में अकेली छोड़ जाना याद है।

(५)

'अकेली' हूं—दुखिया हूँ—विरहिना हूँ—भिखारिनी हूं—क्या न आओगे श्याम !

जगत ठुकराये बैठी हूँ—तुम्हारे मिलन की आशा का इंतज़ार करती यहां आन बैठी हूँ। क्या न आओगे श्याम !

भक्तवत्सल हो, दीन दयाल हो, पतित पावन हो, करुणा सागर हो, जीवन आधार हो—मुझे बड़े प्यारे लगते हो—क्या न आओगे श्याम !

जैसे भी हो आओ ! वन बन आओ श्याम—मैं मोर बनने को अभिलाषा ले बैठी हूं।

ज्योतिर्मय दीपक बन आओ भगवान्—मैं पतंग बन जलने को बैठी हूं।

प्रेम बन आओ, प्रेमनिधि श्याम—मैं विरहिनी बड़ी आस लगाये बैठी हूँ।

प्यारे। तुम आओ ! जैसे भी हो आओ ! सताई हुई को और न सताओ-तड़पी को और न तड़पाओ। जल्दी आओ—वायु से अधिक शीघ्रगामी आओ—बहुत शीघ्र आओ—मुझे न बिसराओ। श्याम आओ ! प्यारे आओ ......!

(६)

'क्या वे न आयेंगे ?'

पर वे तो कह चुके हैं 'आऊंगा'। क्या सुनने में तो गलती न थी।

'आऊंगा, अवश्य आऊंगा'—हैं—यह कौन? मेरे हृदय से उठते प्रश्न का उत्तर देने वाला "तू" कौन? निराशा के घन में विद्युत सा बन; आशा देने वाला 'तू' कौन? फिर 'तू' कह वही बात—मेरे जीवन की बात—फिर मैं सुन लूं, एक बार—वही तेरा प्रिय वाक् बस एक बार, बस एक बार······

पक्षी बन पेड़ की डाल पर जा बैठ—पर फैला चहचहाता, कह दे बस एक बार, वही जो 'तू' ने अभी कहा था—वही मेरा प्रिय वाक्—बस एक बार। बहती यमुना की लहर बन, उमड बस कहदे—वही सुहावना वाक्. मुझे वह प्रिय लगता है। कहदे बस एक बार, बस एक बार।

\+ \+ \+ \+ \+

मोर मुकट वाले, वंसीधर, बनवारी! तो क्या 'तू' न बोलेगा-तो फिर तू ही बता मैं कैसे आदेश पालन करूंगी। इस पथ के पथिक को कुछ तो सहारा चाहिये। हां, मुड़ कर ओ जाते हुये श्याम! कुछ तो कहता जा, बस एक बार बस एक बार।

\+ \+ \+ \+ \+

यह दोनों सरोवर कहना नहीं मानते। लो फिर उमड़ आये और लगी मेरी जीवन नैया डगमगाने। क्या नाविक बन न आओगे! क्या न बनोगे मेरी पतवार, बस एक बार, बस एक बार।

\+ \+ \+ \+ ×

(७)

वह आशा आशा नहीं, जिसमें निराशा न हो। योग योग नहीं, जिसमें वियोग न हो। वह मिलन कैसा जिसके साथ बिछुड़ने का भय न लगा हो। दुःख के ताने व सुख के बाने से ही—तभी विधाता तूने यह सृष्टि पट रचा है। चतुरानन ! तू बड़ा चतुर है।

चतुरानन ! तूने तो जाल बिछा दिया। सुन्दरश्याम को वह न सुहाया। उसी की ओट ले लगा वह आंखमिचौनी खेलने। रोने-रुलाने, तड़पने-तड़पाने। तुम ऐसे चकित क्यों यह सुन कर हो गए ?

ठीक है, वह ज्ञानानन्द स्वरूप है—कूटस्थ है—परम चैतन्य है—परमानन्द स्वरूप है। पर कब होता है, उसको संतोष उस आनन्द से। पूर्णानन्द जब अपूर्ण हो विचरे, तब पूर्ण का सुख अनुभव करे। पूर्ण होते भी इसी 'अपूर्णता' के अभाव से वह अपना जीवन सुखमय न प्रतीत कर चलता है दुःख की खोज में। कहाँ-माया की गोद में। उसी चादर को ओढ़ने चलता है, जिसकी चतुर्मुख ! तू देख-रेख करता है। पूर्ण ब्रह्म अवतार लेता है—लीला करता है—रोता है—रुलाता है।

विरह बिन मेरे स्वामी का जीवन फीका है। तभी वह खोजता निरंतर—क्या—मैया राधे की गोद। वहीं, केवल वहीं सुख मानता है। वहीं लीला प्रारम्भ होती है। कौन सी—कृष्ण की गोद में पड़ी राधे पुकारती है, 'प्रियतम कहां हो ?' और अधीर व्याकुल हो राधे की गोद में पड़े वे पुकारते हैं 'हे श्री राधे ! हे रास रासेश्वरी !'—

(८)

सच पूछो तो शब्द तो केवल यही हैं! 'राधे—कृष्ण।' परम भाव स्वरूप हैं। लीला निमित्त ही एक प्रणव रूप होते भी दो भासते हैं।

मेरी कहानी शब्दों की झंकार नहीं—व्यथित हृदय की पुकार है। इसके अतिरिक्त हो भी क्या सकती थी। क्योंकि सब शब्दों का प्रतिपाद्य मेरा स्वामी है। और सब कर्म उसी के निमित्त हैं।

कोई न समझे तो क्या करिये। मूढ़ यह बहुमूल्य प्रभु को अर्पण करने वाला जल, इन दोनों कमण्डलों से यदि संसार-सम्बन्धियों के स्नेह व आसक्ति पर उड़ेल डालें तो क्या करिये। अनाधिकारी हैं—'अल्प बुद्धि हैं। प्रभु उनको समझ दें।

पुकारे जा वही नाम—सुन्दर नाम—पपीहे का बताया नाम—यही जीवन का फल है··· ·········

'हे श्री राधे!' 'हे श्री राधे!' यह कौन? ठीक है, मुझे चेतावनी देने आई यह ध्वनि। मैं ज्ञान की गठरी बांधने लगी थी। कैसा सुन्दर नाम, इसने सब ही उस कूड़े को गठरी समेत भस्म कर दिया। आग है, आग यह प्यारी जी का नाम। जीव! जो तू अपना कल्याण चाहे तो इसे निरंतर जपे जा, हां जपे जा यही नाम—

'हे श्री राधे'—

६-प्यारे के प्यारों की खोज में !

प्रिय बहन !

और जो वे न मिले तो खोज करूंगी। मन्दिरों में खोज करूंगी। मस्जिदों में सर पटकूंगी। तीर्थों में भटकूंगी, हां नंगे पैर—पैर तो उनसे मिलने के ही लिये हैं, और हाथ भिक्षा करने के लिये। हां फकीर बन कर चलेंगे . यह नुस्खा बहुत दिन से मैंने सुन रखा है। अभी आजमाया नहीं। समय अभी नहीं आया—सो चादर की छोर में बांध रखा है। भला कौन सा !

'जो बन के फकीरा फिरेंगे हम,
तुझे ढूंढ मिलेंगे कहीं न कहीं।'

दवा सेवन से पहले पथ्य रखना होता है। कब तक ? जब तक कि यहां से निराशा न हो जाय।

चलूँगी बहन ! अवश्य चलूँगी। तुमको साथ लेकर चलूँगी। अनन्य भक्त का संग लाभ दायक होता है। निराशा आने नहीं देता। आशा झलकाता रहता है। चलूँगी, प्यारे के प्यारे संतों की खोज में चलूँगी। देर बस यही है—विरह तीव्र नहीं—वह प्रज्वलित हुआ और फिर न किसी से पूछना न गछना। वही पथ प्रदर्शक बन रास्ता दिखलाता चलेगा। देखो ! सामने कौन आ रही है। चलो उसकी कहानी सुनें। कहानी मुझे बड़ी प्रिय है।

(१)

हैं! कौन ? वही विरहिनी। वही अटपटी चाल। वही बिखरे केश। वही बहते नेत्र। वही पीताम्बर को सा रंगा शरीर। कहां जा रही है प्यारी ?

गोपिका का प्रश्न सुन विरहिनी बोली:

'प्यारे के प्यारों की खोज में'

और बिना रुके बढ़ती चलि।

वे कहां रहते हैं ? मुझे भी बताती जा।

सर्वस्त्र प्यारे के ध्यान में। विरहिनी ने उत्तर दिया।

गोपिका बोली—उनका साधन नहीं पूछती। स्थान जानना चाहती हूं।

स्वामी के हृदय मन्दिर में। विरहिनी ने कहा।

गोपिका ने कहा—मैं पूछती हूँ उनका शरीर कहां निवास करता है।

'खोजे जा' यह कह गोपिका को छोड़ चल दी।

(२)

सब ही जगह तो खोज चुकी। पहाड़ों की कन्दराओं, समुद्र के तट, नदी किनारे सब ही जगह तो भटक चुकी, सारा जग ढूँढ चुकी—'कोई राधे श्याम से मिलादे मुझे' कहती वृन्दावन में आ निकली।

यहां भी गीता—भागवत पढ़ा। पुराणों का अध्ययन किया। उपदेश लिये। कान फुकवाये। कथा सुनी। कीर्तन किये पर··· ···

कठोर तप किया। सब से नाता तोड़ मौन रही। पूजा और अपने को पुजवाया पर.........

कितने संतों की कंथी के पीछे लपकी, निर्भय यमुना में डुबकी लगाई। परिक्रमा कर पांव थकाये पर......

कितने को दर्शन तुमने दिये, देते हो, बातें करते हो—यह सुन भटकी। जिसने कहा 'हम दर्शन करा सकते'—उनके पांव पकड़ आंसुओं से धोये। उन चमत्कारी शब्दों में साक्षात्कार की गंध न पाई। मोह—ग्रसित कीड़ों का संग न सुहाया, फिर भी खोज जारी रखी।

यह भी सुना तुम 'सिर ले दर्शन देते' हो। ऐसे सिर देने वाले की खोज में निकली। उस नवयुवक को प्राण देते देखा, पर... ...

खोज करो! तुम कहते! ओ पथ के पथिक! ज़रा रुक बताता जा, कहां खोज करूं?

यह उत्तर है या टीले से टकरा मेरा प्रश्न लौट आया है। फिर तो सुनूँ, फिर वही—

'खोज कर'।

(३)

जीवन की दुर्गम घाटी में बहुत भटक चुकी। शरीर थक चुका। केश श्वेत हो गये पर ... .

फिर क्या लेकर जीऊं।

'आशा'—यह शब्द सुन कर सिर क्यों हिलाते हो ? अच्छा याद आ गया तुम्हारा उपदेश। याद आ गया तुम्हारा वादा श्याम ! तुम कह चुके हो—'आऊंगा अवश्य आऊंगा !'

जब जब निराशियों का, प्रभु के अतिरिक्त चाह रखने वालों का संग करती हूं—मेरी श्रद्धा शिथिल हो जाती है, तुम्हारा प्रण भूल जाती हूं। माला, पाठ, पूजन सब त्याग बैठती हूं। प्रभु ! अब श्रद्धा-युक्त हो तुम्हारे आने की प्रतीक्षा करूंगी। मुझे विश्वास है तुम आओगे, अवश्य आओगे। और आने में तुमको भय ही क्या। त्रैलोक में एक मात्र तुम ही पुरुष हो। हे पुरुषोत्तम ! मुझे विश्वास हो गया, तुम आओगे, अवश्य आओगे।

(४)

कौन कहता है, वह नहीं मिलता है। मिलता है, अवश्य मिलता है। तृषा होती है, पानी मिलता है। भूख होती है, खाना मिलता है। दर्द होता है, वैद मिलता है।

फिर यह निराशा क्यों ? 'खोज करो'। विश्वास रखो वह मिलता है। सर्वत्र मिलता है। कुञ्जों में मिलता है। बन में मिलता है। घर में मिलता है—हृदय में मिलता है। प्रत्यक्ष हो यमुना तट पर मिलता है। विश्वास करो, वह मिलता है।

अमावस्या की अंधियारी रात में मिलता है। पूर्णिमा की चांदनी में मिलता है। दिन में मिलता है। रात को मिलता है। विश्वास करो, वह मिलता है।

बुलाने पर वह मिलता है। वे बुलाये वह मिलता है। जब वह मिलता है, खूब मिलता है।

कैसे कहें वह कैसे मिलता है !

(५)

कुमार बन बूढ़े को सहारा देता मिलता है। युवतियों के संग रास रचाता मिलता है। बूढ़ा बन, बालकों का सहारा खोजता मिलता है।

रोता मिलता है। हंसता मिलता है। ज्ञानोपदेश करता मिलता है। भक्ति का पाठ सुनाते मिलता है। समाधि लगाते वह मिलता है। हर जगह, हर ही समय तो वह मिलता है, पर""""

कैसे कहें, वह कैसे मिलता है। कहना तो बस इतना ही है, विश्वास करो वह मिलता है।

(६)

उसके मिलने का ढंग निराला है। कौन कहे वह कैसे मिलता है। करोड़ों वर्षों के तप से जो न मिलता, पापी अजामिल की एक पुकार पर वह आ मिलता है। देवताओं को जिसके दर्शन दुर्लभ हैं, पशु गजेन्द्र की एक पुकार पर वह आ मिलता है। यह नहीं बन में विचरने से वह मिलता है; यह नहीं सन्यास धारण करने से वह मिलता है; बीच सभा में महारानी द्रौपदी की आतुर पुकार पर वह आ मिलता है, । केवल यही जानती हूं, वह मिलता है। नहीं जानती तो यही नहीं जानती —वह कैसे मिलता है।

तू अपनी पवित्रता का अहंकार मत कर योगी ! वह पतितों को भी मिलता है। वह सबको मिलता है।

अपनी जाती का तू अभिमान त्याग—चमार, कसाई, जुलाहे, धोबी, दर्जी, जाट, पठान सब को वह मिलता है।

स्त्री—पुरुष, बालक—वृद्ध सबको मिलता है। और सब मिलता है, खूब मिलता है। विश्वास रख वह मिलता है।

कैसे मिलता है, कैसे कहें। कहां मिलता है, क्या बताऊं कहां मिलता है।

'खोज किए जा'। वह मिलता है। पुकारे जा वह मिलता है। अवश्य मिलता है। विश्वास रख वह मिलता है। खूब मिलता है। अवश्य मिलता है।

(८)

'खोज करती चली।' प्यारेकी खोज करती चली। अपनी नाव श्रद्धा को पतवार से खेती चली। भूखी चली; प्यासी चली। थकी—मांदी चली। उसके विरह को साथ ले चली। विरहिनी चली। अपना धन साथ लेकर चली। सब ही तो साथ थे। विरह सा पथ—प्रदर्शक पा और किसकी खोज करती। आंसू सी सामग्री पा क्यों और चन्दन पुष्प की खोज करती। आह सा दीपक पा और आरती की क्यों खोज करती। तड़प कसक से मित्र पा, अपने पथ प्रदर्शक के गले में हाथ डाल वह चली। तुम्हारे वादे को याद कर वह चली। तुम्हारी खोज में वह चली। तुम मिलते हो, अवश्य मिलते हो आश्वासन पा वह चली। प्यारे से मिलने को वह चली।

(९)

'खोज कैसे होती है?'

'हो जाती है।' और आज तक तू करती ही क्या आई है। विरहिनी से वह पूछने लगी—उसका साधन ?

मिल तो गया—मन साधने को 'नाम'—हृदय साधने को विरह—और कर्म साधने को खोज। जैसा स्वभाव होता है, वैसा ही जीव लक्ष बनाता है। उसके अनुसार साधन करना होता है। क्षत्रिय अर्जुन को कर्म योग का उपदेश दे—गीताचार्य भगवान ने अपने गुरु, पितामह आदि को मारने का आदेश दिया। उन्हीं श्यामसुन्दर ने 'गृहासक्त' गोपिकाओं को जब पति की सेवा करने का उपदेश शुरु किया—'तो वह अपने पति श्यामसुन्दर से पूछने लगीं—जगत के पति तुम्हारे सिवा हम आत्म निवेदन करे हुई सेविकाओं का और कौन पति है। तुम्हारे चरणों के अतिरिक्त हमारा कौन सा गृह है। आचार्य शिष्य बन गए और लगे भजने अपने भजने वालों को। वही मन्त्र, क्या भूल गये 'रा··· ···'

फिर क्या साधन कहूं। साध्य जिसके पास, नहीं नहीं साध्य का जीवन—विरह—उनका मंत्र—रा··· ' जिसके पास हो—क्या उसकी खोज के लिये और सामग्री की ज़रूरत है। श्रद्धा तो एक स्वाभाविक चीज़ है। जीव उसे लेकर जन्मता है। साधन से वह प्राप्त नहीं—सो फिर कहती हूं—वही बात बार बार—

(१०)

कैसे चली—कहां चली—क्यों चली—प्रश्न करना व्यर्थ है—इतना ही जान लो वह चली—प्यारे की खोज में चली—विश्वास की पतवार से खेती चली—विरह से प्रेरी वह चली—प्रियतम की खोज में वह चली—हां उस पार—उस पार प्रियतम से मिलने वह चली।

७-तेरे दर्शन-मेरा जीवन !

प्रिय बहन !

मेरे अंधियारे जीवन में कोई दीपक न बाल सका। आज तक अप्रकाश में बैठी हूं।

अपनी मुझे परवाह नहीं। चिन्ता है तो केवल यही, यदि वे आये, तो अंधियारे में कहीं लग जाए।

तुम हंसी क्यों ? मेरी मूढ़ता पर—इतना ज्ञान न होने पर कि वे स्वयं प्रकाश हैं।

हुआ करें—उनके लिये ! योगीश्वरों के ईश्वर, चराचर के नायक त्रिलोक के आधार, पूर्ण ब्रह्म ! हमें न उनके ऐश्वर्य की चाह है, न विश्वरूप देखने की लालसा। कौन उस रूप में उलझे और आलिंगन, चुम्बन के सुख से वंचित रहे।

हमें तो चाहिए वही दो हाथ वाला—
कृष्ण कन्हैया, वंशी बजैया, गऊयें चरैया—

हरे हरे

(१)

तेरा दर्शन—मेरा जीवन। तेरी खोज—मेरा साधन। तेरा भजन—मेरा भोजन।

कथा सुनती हूं—सत्संग में जा बैठती हूं—कीर्तन में विह्वल हो जाती हूं। सब कुछ है, स्वामी! फिर भी तू नहीं रीझता। तू कहता है 'मेरी कृपा की कुंजी मेरे संतों के हाथ' —बता तू ही उनकी पहचान—कहां उन्हें पाऊं?

'खोजे जा'—यह तुम्हारा उपदेश तो अनेक बार बरता। क्या लाभ इस औषधि के सेवन से—'दर्द बढ़ता ही गया, ज्यों ज्यों दवा की'—

सिर हिलाने से काम न चलेगा—'मेरा मिलना सुलभ—' मेरे प्यारे का मिलना दुर्लभ—'यह मुझ से छूट कर न जा सकोगे—बताना ही पड़ेगा—वह महामन्त्र, अपने प्यारों की पहचान—वह पुकार, जिसे पुकार मैं उन्हें पा सकूँ।

(२)

संत बड़े दयालु होते हैं—करुणासागर होते हैं। सब ओर केवल जिनको मेरा स्वामी ही निरंतर दरसे, मोह से न मोहित होने वाले, दोष तो किसी में देखना जानते ही नहीं—सच्ची जिज्ञासा, आतुर पुकार, तीव्र आह की जंजीर में जब चाहो उन्हें बांध लो—उनको अगर कुछ नहीं सुहाता तो वह है 'कपट'—निष्कपट हो उनके सामने अपना हृदय खोल दो। और वे स्वामी के हाथ में तुम्हारा हाथ दे देंगे।

(३)

'संत पतित पावन होते हैं--भगवान से मिलाते हैं। विरोधी उनके मिलने का है कपट--तब तो पहचान मिल गई—मैं 'पतित' हूं ही अधिकारिणी भी हो गई—निष्कपट हो विरह का आश्रय ले उनसे अपनी कहानी कहूंगी। वे सुनेंगे और प्यारे से मुझे मिला देंगे। युगों से बिछुड़ी मैं अपने स्वामी की गोद में जा बैठूँगी। नीरस जीवन रसमय हो जायेगा। कुम्हलाया फूल फिर खिल उठेगा।'

विरहिनी कैसी बहकी सी बात कर रही है—प्रकृति के विपरीत —अरी! कहीं मुर्दा भी जीता सुना है। कुम्हलाया फूल खिलते देखा है—गोपिका प्रश्न कर बैठी।

जिसको तू जीता मानती है--मेरे स्वामी से विमुख संसार में आसक्त, वह तो सदा ही मुर्दा है। ऐसा मुर्दा न मरता है, न जीता है। पर मरना-जीना, अपने विरही के संग आंख मिचौनी का खेल—उनका वियोग उसे मारता और संयोग जिलाता है। प्रभु के विरह में नित्य मरने वाले प्रेमी जन की संजीवनी है 'संत कृपा दृष्टि'—वह पड़ी और मुर्दा जिया।

(४)

'प्यारे के प्यारों की खोज'—प्यारे की खोज से कुछ कम मुश्किल नहीं—थी तो अभी बालिका—पर विरहिनी दृढ़ता व श्रद्धा की तो मूर्त्ति ही थी—तभी वह आरूढ़ हो चल दी खोज में—कहां—बहुत दूर—यह भी न विचारा रास्ता कठिन है—लम्बा है—भूखी, प्यासी, नंगे पांव वह चल दी। न रात का भान, न दिन का ख्याल-वह पुकारती, वही पुरानी पुकार—कहां हो राधेश्याम! दर्शन दो ओ श्यामाधाम!

कई दिन बाद वह समुद्र तट पर पहुंची—अपने प्यारे की द्वारिका नगरी में। अनुराग लीला का काण्ड ख़त्म कर—मेरे स्वामी पतित पावन, ऐश्वर्य--माधुर्य मिश्रित लीला करने वहीं पधारे थे। वहीं स्वामी ने विप्र सुदामा के चरण अपने नेत्रों के जल से धोये थे। वहीं अर्जुन से शरणागत का-भक्तवत्सल भगवान ने सारथ्य ग्रहण किया था। वहीं रुक्मिणी को अपनी अर्धाङ्गिनी बनाया था-वहीं अपने भक्तों के बैरी दुर्योधन को अपनी नारायणी सेना का दान दिया था। वहीं अर्जुन को सुभद्रा सी बहन दे भक्तवत्सलता का परिचय दिया था, और वधिक का बाण खा उसे अपने धाम सशरीर पठाया था।

यह तो वही द्वारका है, जहां सदा ही प्रभु अपनी वही लीला करते हैं—मीरा को अपने में समा लेते हैं—नाम देव का मन हरते हैं—और पीपा व नरसी मेहता को……

किस विचार में मग्न है बेटी !'— विरहिनी ने मुड़ कर देखा तो स्वामी जी पीछे खड़े थे। वह बोली—

'प्यारे के प्यारों की लीला याद आ गई—उसी का अनुकरण किया चाहती हूं।'

'क्या ? ज़रा मैं भी तो सुनूँ'—स्वामी जी बोले। 'जैसे पीपा जी ने स्वामी के दर्शन पाये थे—वैसे ही समुद्र में कूद, उनकी द्वारिका में पहुंच दर्शन किया चाहती हूं'— विरहिनी बोली—

'फिर भी यदि वे न मिले अब!' स्वामी जी ने प्रश्न किया।

'कहानी समाप्त हो जायेगी तब ! विरहिनी बोली।

धैर्य से बरत बेटी! शरीर कर्म जनित है। इसके नाश से कर्म का नाश नहीं—कर्म भोग से तो परम भागवतों का भी छुटकारा नहीं—अकाल मृत्यु का परिणाम अच्छा नहीं।' स्वामी जी बोले।

तो फिर क्या करूं?—विरहिनी पूछने लगी।

खोज कर—स्वामी जी बोले!

कब तक—वह पूछने लगी।

''''''पीताम्बर का छोर झलका, बंसी की ध्वनि कहती सुनाई पड़ी, 'जब तक''''''

(५)

विरहिनी जब मूर्च्छा से चेती तो वहां स्वामी जी को न पाया। विचार मग्न बैठी थी, किसी संत सेवी ने हाथ जोड़ प्रार्थना की: 'माता! इस पतित का भी उद्धार करो। इस गृहासक्त का आतिथ्य स्वीकार करो। करुणामई मैया पधारो—सब ही बालक तुम्हारे मुख में भोजन का कौर देने को आतुर हैं!' '''(उसका कंठ भर आया, आंखें बह चलीं। कुछ आगे न कह सका। विरहिनी के चरण पर गिर पड़ा।)

'पिता जी! इस परदेसिनि, पतिता पर, प्रभो! क्यों ऐसी दया आई—चलो, अवश्य चलो—मुझे अपनी चरण-रज धारण कर परम पवित्र होने का अवसर दो।'

'नटवर ! तेरी लीला विचित्र है'—विचार मग्न विरहिनी साथ हो ली।

(६)

आई थी श्याम की खोज में—उसकी द्वारका नगरी आई थी—वैसे ही जैसे मेरे स्वामी को प्यारों की पुकार बुला लाई थी। हां मथुरा से यहां लाई थी। मैं भी उसकी रासस्थली छोड़ आई थी। वहां वह अपने रास में ऐसे भूले रहते हैं और अनन्य भक्त शिरोमणि गोपिकाओं से—जिन मुक्तात्माओं में कर्म की लेश मात्र गंध नहीं—ऐसे घिरे रहते हैं, कि पतितों का अभाव होने से उनका ध्यान उनकी ओर जाता ही नहीं। मैं पतिता इसी आशा को साथ ले आई थी, कि अब शीघ्र मेरी पुकार सुनेंगे। इसीलिये आई थी।

अब सब ही ने मेरे जख्मों को धोने, सेकने से मुख मोड़ लिया—हाथ खींच लिये—हां सब ही वृन्दावन के संतों ने—तब ही मैं आई थी। प्यारे को अपनी दुःख भरी गाथा सुनाने आई थी।

मीरा भी तो आई थी—हां रणछोड़ जी! तुम्हारी चौखट पर आई थी। दुखिया दुःख ले आई थी—वृन्दावन से आई थी। स्वामी! बड़ी आशा ले आई थी—तेरी द्वारका पुरी में मीरा आई थी।

हां मुझे खूब याद है—खूब याद है—इसी मन्दिर में उसने मुझे अपनी आकुल व्यथा सुनाई थी—और तूने'' '' तुझ ही में वह समाई थी।

उसका सुन्दर स्वप्न—वह पूरा करने आई थी—मैं भी प्यारे आई हूँ। स्वप्न में तुझ से मिल कर बिछुड़ी आई हूं!— मेरे स्वामी! मैं भी आई हूं—अपना स्वप्न फिर देखने आई हूँ। तुम्हें फिर कंठ लगाने आई हूँ……

(७)

कैसा स्वप्न ? कैसा प्रभु को कंठ लगाना ? छोटा मुंह बड़ी बात ! यह कौन है ? यहां मन्दिर में क्यों घुस आई है ? बिना पूछे क्यों आई है ? पुजारी को विरहिनी का भगवान के बहुत निकट खड़े हो ऐसी बातचीत करना न सुहाया। धीमें से ताड़ना देने का साहस किया था कि उसके तेज से वह शिथिल पड़ गया। और कुछ विचार कर, बढ़ कर माला पहनाते कहाः 'माता ! यह प्रभु की प्रसादी है। आप यहीं स्वामी का प्रसाद पायेंगे, जाइयेगा नहीं।'—

…'स्वामी साध्वी गोपिकाओं के मनोरंजन वाला काण्ड समाप्त कर तुम यहां आये हो। असाध्वी मेरी सी बालाओं के आंसू पोंछने आये हो। यहां तुम बांह छुड़ा न जा पाओगे। जाओगे तो पतित-पावन न कहलाओगे। यहां रास का बहाना कर न छोड़ जाओगे। जाओगे तो गोपीनाथ ! अनाथों के नाथ न कहलाओगे ! ……'

'सुननी ही पड़ेगी मुझ दुखिया की कहानी-लम्बी सही—रात खत्म हो गई—मेरी कहानी न खत्म हुई—तो क्या न सुनोगे—रास करते तो श्याम ! तुम न उकताते थे-फिर मेरी कहानी कैसे अधूरी छोड़ जाओगे—नहीं नहीं—कदापि नहीं ……'

अपने विलाप में मग्न विरहिनी ने जब पुजारी की प्रार्थना

न सुना—और प्रभु के शयन का समय आ गया, तो संतसेवी ने उन्हें चेताया—

विरहिनी कुछ विचारती वहां से चल दी।

(८)

कैसा खाना पीना, कैसा शयन-श्याम! तुम तो मिले ही नहीं- क्या करूं, तू ही बता। वृन्दावन 'ही' में तुम मिलते हो। सब अनुभवी महात्माओं ने वृन्दावन त्यागने को मना किया था। जीवन की अवधि बीतती जा रही थी—कोई तेरा प्यारा न मिलता था...पर हाँ मिला—विरह से व्याकुल एक बालक—तेरी याद में भटकती एक बालिका—उन का सहारा पा ही मैं पड़ी रही। जिसने जहां कहा खोज, वहां तुम्हें खोजा—वन में, यमुना पुलिन पर, कुंजों में। पर सदा ही तो आशा ले गई, निराशा ले लौटी।

केश श्वेत हो चले थे—शरीर जवाब देने वाला था—दिन बीते जा रहे थे, पर तू न मिलता था। जिस को जो हो, गोलोक हो—स्वर्ग हो—मुझ पतित को तो वृन्दावन बन ही था। कैसे मान लेती उससे विशेष कोई स्थल नहीं है। जब सब 'साक्षात्कार हमने किया' कह विचरने वालों को प्रियतम तक अपनी पुकार, अपनी प्रार्थना पहुंचाने में असमर्थ ही पाया—रास देखो, दर्शन करो, कथा सुनो, परिक्रमा करो, जाप करो, यमुना स्नान करो—समय आने पर वह मिलते हैं—महात्माओं ने इससे आगे कुछ और न बताया। मिलते होंगे—जिसको मिलते होंगे—कुछ 'करने' से 'ही' वे मिलते हैं—मेरे हृदय ने गवाही न दी। और देता कैसे—जब वे स्वयं कह चुके—"मैं जप, तप, पाठ, पूजा से नहीं मिलता—जब मिलता हूं, खूब मिलता हूं—अवश्य मैं मिलता हूं। पर कोई नहीं कह सकता, 'मैं कैसे मिलता हूं।'

तड़प किसको नहीं भटकाती—विरह की मारी कहां दर्द की दवा खोजने नहीं जाती—जीवन जा रहा है—क्षण-भंगुर है—दुर्लभ है—फिर कब तक समय की प्रतीक्षा करती बैठी रहूंगी—पर करूं भी क्या ?

'खोज कर'—हैं! मेरे मन मन्दिर के वासी-बलिहारी! अवश्य करूंगी—खोज करूंगी—अब तो तेरी आज्ञा मिल गई।

आदेश पा विरहिनी द्वारिका पधारी थी—

८-शाम आई, श्याम न आया।

प्रिय बहन !

कहानी समाप्त हो गई ।

नहीं-बहुत लम्बी है । अधूरी रह गई ।

विरह की गाथा के निराले नेम होते हैं । न कहो तो हृदय फुंक जाये, कहो तो ज़बान जल गई ।

कुछ ऐसी ठान न कहूँगी······

नहीं-नहीं-विरहिनी की गाथा गोपिका को सुहाती है, कहूंगी-हां जब सुनूँगी—तब कहूँगी—

जब वह मिलेगी—तब मैं सुनूँगी—कब, कहां, कौन जाने ।

अभी तो हाथ ही नहीं आती —मुख ही नहीं दिखाती है ।

विश्वास न हो तो देख लो उसके पास आकर ।

(१)

'कौन !'

मुझ से प्रश्न करने वाला तू कौन—मुड़ कर देखा कोई न था—

मैं आगे बढ़ चली—
'क्यों छेड़े जाती है। विरह एकांत में सेया जाता है।'
मैंने मुड़ कर देखा कोई न था।

(२)

वन था—गोमती का किनारा था—वृक्ष था—एक झोपड़ी थी—घास का बिछौना था—मिट्टी के करवे में जल था—मैंने घूर घूर चारों ओर देखा —

मेरा अधीर हृदय कंपित हो पूंछ बैठा; 'क्या देखा ? विरहिनी का घर देखा—!

'और !'
उसका सामान देखा पर-उसको न देखा !

(३)

तुम कह गये थे—आऊंगा—अवश्य आऊंगा—अब क्यों देर, क्या विचार—

'दर्शन दो मेरे श्याम'—
'कौन'—मैंने पूछा

विरहिनी की पुकार'—बहती हवा मेरे कान में कह गई। बहुत ढूँढ़ा, उसको न पाया

(४)

"शाम को आता है—दूध लाता है—उसको पिलाता है"। गांव वालों ने कहाः—छोटा सा है—बालक है—गऊ साथ ले आता है

'फिर' मैंने पूछा

'कौन जाने—कैसे जाने ?' वह बोला

'क्यों ?'—मैंने प्रश्न किया—

'क्यों मेरा प्रश्न पेड़ से टकरा लौट आया—वहां कोई न था—।

(५)

बन में भटकी—उसको न पाया—पाया तो उसकी वही व्यथित हृदय की पुकार—पहाड़ों की कन्दराओं में—बहती नदियों की लहरों में—वृक्षों में—सब में सुनी—दिन में सुनी - रात में सुनी—निरंतर सुनी—सर्वत्र सुनी—केवल वही पुकार—

दर्शन दो श्याम—बस एक बार—बस एक बार—'

(६)

यात्री की यात्रा समाप्त होगई - मंत्र मिल गया—मृगछाला ओढ़े—धूनी रमाये वह बैठो —एकांत में—बन में—मौन "…

पर बोलता है, उसका रोम २। क्या ? वही विरहिनी की पुकार—

दर्शन दो श्याम—बस एक बार—बस एक बार—

द्वितीय भाग

-तेरी द्वारिका नगरी में-

कृष्णा है—! मिलता है—! मिला है—!

प्रिय बहन !

चाहने से मौत नहीं आती—वियोगी के प्राण कठिनता से निकलते हैं।

देखो ! प्रभु के गले का हार—पुष्पों की माला—प्रभु से वियोग प्राप्त कर—'मैं शीघ्र रजकण में मिल जाऊं—मर जाऊं—कि प्यारे के चरण शायद कभी मुझ पर पड़ जायें'—क्या नहीं चाहती—मरना चाहती, मौत नहीं आती। कुम्हलाने—फिर यमुना में फेंकने—फिर किनारे लगने—रज में मिल, रज होने में समय लगता है।

जिस मौत को पा उनसे मिलन होता है, हमारे चाहने से नहीं आती। समय पर आती है। बड़े काल बाद आती है।

मृत्यु दुश्वार है, तो हे नाथ ! इस जीवन को क्यों पहेली बनाना था। पहेली बना, उसमें उलझाना न था। तू ही बता, अब कैसे सुलझूं ? न सुलझूं तो करूं क्या ? उलझा जीवन किसको भाता है ! तब ही तो मांगती हूं—मौत—

बहन ! यह सुनी विरहिनी की मांग—अभी होश में है—संसार भासता है, सो मांगती है—'मौत'—जो फिर पागलपन ने आन घेरा—अपनी पुरानी रट—हा कहानी फिर शुरू करदी—क्या—

(१)

क्या न आओगे श्याम !

क्यों आने लगे—ओ वैकुण्ठ वासी ! इस मृत्युलोक वासिनी के पास-प्रकाश,! कालिमा के पास आये, दूषित न हो जायेगा ! हैं ! तुमने यह ऊपर संकेत कैसा किया—मैं जान गई—चन्द्रमा धारण किये है कालिमा--वह कलंकितहोने से नहीं घबराता ! हैं ! तुमने यह नीचे संकेत कैसा किया—मैं जान गई—'व्यक्ति परछांई का संग नहीं त्यागता,साथ ले चलता है ।

हैं ! मेरी गीता जी की ओर संकेत कैसा --मुझे याद आगई तुम्हारी कहीं बातें—सब का आत्मा --मैं ही मृत्यु भी हूं·······!"

प्यारे ! यह ढंग तुमने कहां सीखा --न तो मिलते ही हो—न निराश हो जीवन ही त्यागने देते हो --आशा पीछे लगा देते हो—उलझाये रहते हो—मुझे तड़पता देख --तुम्हें क्या सुख मिलता है—क्यों रुलाते हो—अपने विरही से संसार तो पहले ही त्याग कराते हो—अपनी 'चाह' पीछे लगा भटकाते हो—न मिलते हो --न मिलने की राह बताते हो । कुछ तो न्याय करो—वह वेचारी क्या ले जिये—न जिये तो करे क्या —मरने तुम देते नहीं हो —देते हो, तो संग को बस वही अपनी पुकार —'कहां गये श्याम—क्या न आओगे श्याम—दर्शन दो श्याम—बस एक बार --बस एक बार ।

(२)

निर्भय रहती है—जहां भी रहती है—तुझको चाहने वाली निर्भय रहती है । भूख-प्यास,गर्मी–सर्दी, आंधी-बरसात सब ही में निर्भय रहती है । घर में रहे, या बन में —एकान्त में रहती है—अकेली रहती है-मौन रहती है—हां संसारी संग से दूर रहती है ।

(३)

'तेरी प्यारी—एकांत वासी—अकेली रहती हैं'—मैं सुन चुकी थी—पर मुझ से सत्संग बिना रहा न जाता था—फिर उसकी 'प्यारी' कैसे बन पाऊंगी ?

'कभी न देखा, न सुना' बिना कुछ लिये' भी कोई विरहिनी रह सकती है।

'अवश्य रह सकती है—रहती है—द्वारका नगर में रहती है—' शब्द मेरे कान में पड़े—मैं बिना सिर उठाये पूछ बैठी—"तो वह क्या 'ले' रहती है ?"

'प्यारे का ध्यान'—आगे कुछ न सुन पाई।

'विरहिनी वन में रहती है—अकेली रहती है।' यह सुना था, तभी प्रश्न उठा था—'क्या ले रहती है'—और उत्तर मिल गया।

'विरहिनी एकान्त में रहती है—अकेली रहती है—'प्यारे का ध्यान'' ले रहती है।'

(४)

इसमें आश्चर्य ही क्या है—निरंतर,एकान्त, अनन्य ध्यान में महान शक्ति है। कीट भृंगी का ध्यान कर भृंगी हो जाती है। तभी वह योगी ध्यान समाधि लगा, सायुज मोक्ष प्राप्त करते हैं। तभी मेरे स्वामी ने गुह्यतम उपदेश यही किया—

'मन्मना भव'।

'ध्यान में बड़ी शक्ति होती है। निरंतर, अनन्य सब ओर

से मुख मोड़ कर ध्यान सांवरे रसिया को उलझाने की शक्ति रखता है।......।' ....सुनाई पड़ा—

'तुम कौन ?' मैं पूछ बैठी—!

स्वामी जी पत्तों की ओट से निकल आये—और मेरे कंधे पर हाथ रख बोले—'सुन लिया ! अब प्रमाण' देख सामने वह कौन ?

गईयों के साथ एक बालक कांधे पर कारी कमरिया डारे—सिर पर मटकी रखे जा रहा है। हां बड़ी तेजी से जा रहा है।

कहां जा रहा है—स्वामी जी ने पूछा।

प्रभो उधर—'विरहिनी की कुटिया की ओर।'

समझी ! यह हैं सांवरे रसिया—और चले आ रहे हैं, ध्यान की रस्सी से बंधे, खिंचे ....

कौन ! मेरे स्वामी ! मेरे स्वामी—क्या तुम आगए श्याम ! मैं जब चेती कुछ न पाया—न स्वामी जी—न कुटिया-न वह। बहती हवा ने कान में कहा—

विरहिनी अकेली रहती है—एकान्त में रहती है—निश्चिंत रहती है—प्यारे के निरंतर 'ध्यान' में रहती है।

(५)

'विरहिनी से जब से बिछुड़ी, चैन न पाया'—गोपिका विचार करने लगी—कोई तो हो; जिसको विरह की कथा सुना जीऊं। पता लगाते लगाते यहां आई। कुटिया अवश्य मिली—विरहिनी न मिली।

कहीं संतों की सभा में न बैठी हो………।

(६)

श्रोताओ ! सब शास्त्रों का निचोड़, संतों का उपदेश, सब तत्त्वदर्शियों का अनुभव केवल इतना ही है;

'कृष्ण है। मिलता है। मिला है।'

गोपिका बीच में पूछ बैठी—किसको मिला है ?

वक्ता मुस्काते बोले—विरहिनी को

'हैं। कौन ? स्वामी जी !' कह गोपिका चरणों पर गिर पड़ी। गिड़गिड़ाती बोली—'कहां मिला है ? स्वामी जी !'

'एकान्त में'—स्वामी जी ने उत्तर दिया ! बेटी ! सब संत-संग का फल है, संत-सङ्ग। वह सङ्ग सदा प्राप्त भी अप्राप्त है। पास रहते भी अति दूर है। जीव स्वभाव ले जन्मता है। कालान्तर की वासना, काम-क्रोध-लोभ आदि उस सत्त को आच्छादित किए रहते हैं। तीव्र एकान्तिक निरंतर अनन्य ध्यान से उत्पन्न विरह जब उसे भस्म करता है—तो प्रतिबंधक नाश होते ही स्वामी से भेंट होती है। अंतर, बाहर, सर्वत्र, सब समय।

प्रभो ! कैसे हाथ आये यह विरह।

'पुकारे जा'—स्वामी जी बोले।

'क्या'?

वही पुकार—'दर्शन दो श्याम—बस एक बार—बस एक बार।'

(७)

स्वामी जी यह क्या कह गये—सब शास्त्रों का निचोड़—सब उपदेशों का सार केवल इतना ही है, 'तू है'—यह कौन नहीं जानता—यदि यही तत्त्व अंत में सब जप, तप, पाठ, पूजा, भक्ति, कर्म, ज्ञान, अष्टांग, हठ लय, शब्द योग के बाद प्राप्त होता है,—तो जीव व्यर्थ कठोर तप करता है। यह गुह्यतम रहस्य स्वामी जो कहते हैं कैसे हो सकता है………'

'बेटी ! "हो सकने" का सवाल नहीं। निश्चित है, 'है'। तत्त्व-दर्शियों ने इससे परे कुछ और अनुभव नहीं किया। अंत वाक् इससे परे न कह पाये। यह 'परतम' है। इस से परे तो एकांत वास और मौन है। प्रमाण—विरहिणी।'

प्रभो ! आपकी अटपटी बात मेरी समझ में न आई—विस्तार से कहिए ! गोपिका बोली—

बेटी ! सार है, प्रभु के स्वरूप का ज्ञान-उस परम तत्व स्वरूप के अंतरगत हीं सब तत्व हैं। माया-जीव, क्षर-अक्षर, पुरुष-प्रकृति। बस जहां उस परम भाव पुरुषोत्तम को जाना'''और सब जान लिया। कुछ शेष जानने को न रहा। लड़ाई तो उसके अंतरगत भावों में है। वह तो परतम् है। कृष्ण, कृष्ण है—दूसरा हो ही नहीं सकता। बहस व तर्क सब समाप्त हो जाता है। रह जाता है, तो केवल मात्र मौन।

सब ही कहते हैं, सर्व व्यापी है—सर्व समर्थ है—सर्व व्यापक है—सर्वज्ञ है—अंतर्यामी है—पर विश्वास नहीं—यदि विश्वास हो जाये कि 'वह है' तो चोर चोरी न कर सके—कसाई हत्या न कर सके......कुछ भी न हो सके—रह जाये, तो केवल—सन्यास—फिर कर्म ही क्या हो सके—केवल भजन, भजन—निरंतर ध्यान—एकान्त वास—हां दुनिया से सन्यास। और विरहिनी कर हो क्या रही है ?

बेटी ! महा दुर्लभ है यह श्रद्धा—जन्मों के सुकृत जागें—संत सङ्ग—संत कृपा प्राप्त हो—वैराग्य हो—अभ्यास हो, तब कहीं मन सधे। अश्रद्धा हीं तो उस जल रूपी मन को हिलाती है। प्यारे का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ने देती। बेटी ! महा दुर्लभ है, यह श्रद्धा—सब साधन इसी को प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं। सब का यही फल है—यह श्रद्धा 'भगवान है।'

प्रह्लाद को यह श्रद्धा हुई थी—खँभ से भगवान् प्रकट हुये। जड़ भरत को यह श्रद्धा थी, सिर काटने निमित्त आगे बढ़ा दिया। अजगर मुनि को यह श्रद्धा थी, भिक्षा के अर्थ कहीं न गये।

'भगवान् हैं'—यही परम सत्य है। त्रिकाल में सत्य है—श्रद्धा से ही यह अनुभव होता है। फिर वह श्रद्धालु भक्त कृष्णमय संसार देखता है। देखे भी क्या—जब सत्य केवल इतना ही है, 'तू ही है...!'

स्वामी जी उपदेश कर रहे थे कि गोपिका बोल उठीः—प्रभो ! यह श्रद्धा कैसे प्राप्त हो ? कौन सी युक्ति से ?

नवधा भक्ति में से कोई एक साध ले। कीर्तन कर, कथा कर इत्यादि। ज्ञान में अधिकार रखती है, तो 'तत्व विचार-मन साध-वासना क्षय कर।' कर्म की अधिकारिणी अपने को मानती है, तो भगवत्-निमित्त निष्काम कर्म कर। फल तुझको बता दिया, बस है श्रद्धा उत्पन्न हो—स्वभाव अनुसार साधन कर।

स्वामी जी ! मैं स्त्री हूं—मूढ़ हूँ—मेरी परिस्थिति से आप परिचित हैं—मेरे स्वभाव को जान परम सुलभ साधन बताइये। जो मुझे रुचे और मैं तत्पर हो उसे बरत सकूँ। गोपिका ने प्रश्न किया।

बेटी ! जो कर रही है—करे जा—'खोजे जा' उसके विरही को खोजे जा—बेटी ! खोजे जा—जब तक न मिले 'विरहिनी' को खोजे जा—तेरा कल्याण हो—' कह स्वामी जी चले गये।

(८)

परम श्रेष्ठ ही क्यों न हो—दुर्लभ ही क्यों न हो। कितने पूर्व जन्मों के पुण्य से ही सुलभता से क्यों न वस्तु प्राप्त हुई हो—जीव को उसकी क़दर नहीं मालूम होती—जब भटक-भटक थक जाता है, और वह हाथ आई चीज निकल जाती हैं। जब-जब उसका स्मरण आता है, वह हाथ मलता है—रोता है, जब-जब जहां-जहां उसकी प्रशंसा, दुर्लभता का हाल सुनता है, उसके प्रति प्रेम होता है श्रद्धा होती है—और प्रेम मार्ग में श्रद्धा ही सार है। हरि, गुरु, संत, शास्त्र किसी में श्रद्धा कैसे भी हो जाये, कल्याण है। भगवान् की विचित्र लीला है कि असमर्थ पति, पुत्र बन्धु, धन आदि नाशवान वस्तु में तो आसानी से श्रद्धा हो जाती है—पर इन चारों में महा कठिन है। श्रद्धा है, तुझ जाना ! धन, मन क्या जान ले—सदा ही

गुरू के चरणों पर न्योछावर होने को तैयार रहना। भक्ति का यही रहस्य है! अनन्यता, पतिव्रता-धर्म—इससे सब प्राप्त है।……

यह सब ही जान कर मैंने 'विरहिनी' को अपने हृदय-मन्दिर में स्थान दिया था। गुरू मान पूजती थी। पर उसकी स्थिति मैं न जान पाई। 'उसका प्यारा ही उसके प्यारे को पहचान सकता है।' मैं न पहचान सकी। तभी तो साधारण व्यक्ति जान वैसे बरता। भगवत् प्राप्ति का महान विरोधी है, 'गुरू में ईश्वर बुद्धि का अभाव।'

हाय! यह क्यों हुआ। मैंने सन्तों की सेवा न की थी—गुरू पा मैं उन पर न्यौछावर न हो सकी। संसारी संग ने मुझे लूट लिया। उससे मौन हो यदि मैं एकान्त वास कर सकती, तो आज रोना न पड़ता।

गुरूदेव! मैं बलि जाऊं—मेरे हृदय मन्दिर की स्वामिनी! क्या मुझे क्षमा न करोगी।

'क्षमा किया।' हैं कौन—तो अब क्या आज्ञा?
पुकारे जा, वही मेरी पुकार!

कौन सी? वही 'विरहिनी' की, वही गुरूदेव की पुकार—दर्शन दो श्याम—बस एक बार—बस एक बार—!

(६)

'गुरुदेव की खोज'—कितनी कठिन है—कोई मुझसे पूछे कितनी कठिन है! जिसको अनुग्रह कर वह मिल चुके हैं, जानता है, 'गुरू की खोज कितनी कठिन है।'

अभागी मैं—जो उन्हें पा उनको खो बैठी—हां न पहचान पाई—मेरे गुरुदेव ! तुम्हें न पहचान पाई।

मैंने एक टेक बांध रक्खी थी—जो मुझे दर्शन कराये वही मेरा गुरु है…………।

पर कराये तो—मंत्र दे यमुना तीर—हां कराये तो द्वारिका में—वह बालक जा रहा था, तुम्हारी कुटिया की ओर, वही लिये गईयों………।

(१०)

'श्रद्धा, महा दुर्लभ है। साधन से वह प्राप्त नहीं। किये जाओ साधन जन्मों तक, मिले न मिले।

सुलभ है, श्रद्धा प्राप्ति, महा सुलभ—यदि गुरु मिल जाये। गुरु की खोज महा कठिन है।

फिर उनकी पहचान कैसे हो—? जब कृपा कर वे ही दें—तो स्वामी जी ! 'यह अटपटी पहेली कैसे सुलझाऊं ?' बता तो चुका—केवल वही एक रास्ता है—उसके अतिरिक्त नहीं—पुकारे जा वही विरहिनी की पुकार—आतुर हो पुकार—रो-रो पुकार—कपट, संशय, अश्रद्धा त्याग पुकार—पुकार, पुकार, वही पुकार—विरहिनी की पुकार—

'दर्शन दो श्याम—बस एक बार—बस एक बार।'

२-हे श्री राधे-!

प्रिय बहन !

यदि वह आजातीं—मेरी मां श्री रा……

मैं मृतक जी उठती—भटकना खतम हो जाता। यात्रा समाप्त हो जाती। परदेस में बिछुड़ी मैं अपने घर आ जाती।

रो कर बुला चुकी—तड़प कर बुला चुकी—निरंतर उनका ध्यान कर बुला चुकी—निष्कपट हो पुकार चुकी—वे न आईं।

मां! तुम न आईं—हे श्री राधे! वृन्दावन में भटकाया—द्वारका में भरमाया—अब क्या और परीक्षा बाकी है।

मैं निर्बल हूँ—समर्थ हैं, तो मेरी गुरुदेव—पर वह नहीं मिलतीं—मेरे दुर्भाग्य मिल कर बिछुड़ गईं—बिछुड़ गईं—।

'खोजे जा—वह मिलीं और तेरी मां मिलीं……'

मेरे मन वासी! तेरा आदेश सुन लिया। 'विरहिनी की खोज में चल दी—'।

(१)

'जो स्वयं विरह में व्याकुल हो खोजता फिरता हो, वह मुझे स्वामी से मिला सकता है'—मेरी बुद्धि में न आता था फिर कैसे गुरु बनाती। पर गुरु तो मैंने अवश्य विरहिनी को बनाया था—मंत्र पा, दर्शन स्वामी के कर बनाया था। पर गुरु ज्ञान, दर्शन बाद तो मोह न रहना था—सदा प्रभु के हाथ में हाथ रहना था—यह तो नहीं—मैं तो वैसी ही अकेली, पिया की तलाश में भटक रही हूँ।

तो क्या वह दर्शन न थे—फिर भी तो हुये—यदि पहले स्वप्न तथा ध्यान में दर्शन थे, तो यहां तो मैंने प्रत्यक्ष उनको गईयों के संग, गुरुदेव की कुटिया की ओर जाते देखा—फिर दर्शन से बड़ा तो कोई सुख नहीं—दर्शन परम लाभ स्वरूप है, पर मैं तो पहली सी ही दुखिया हूँ—कंगालिनी अब भी वैसी हूं।

'दर्शन, दर्शन में भेद होता है। साक्षात्कार के अनेक भेद हैं। पूरे गुरु के उपदेश से सदा के लिये मोह नष्ट हो प्रभु के चरण दासी के हृदय में विराजमान हो जाते हैं। वे प्रकाशमय दिव्य चरण फिर माया रूपी तिमिर नहीं आने देते। जीव मुक्त हो जाता है।' स्वामी जी ने गोपिका के पीछे आ उपदेश करना शुरू किया।

गुरु बिना पहचान नहीं होती—इस पहचान को ही ज्ञान कहते हैं—इसी से मुक्ति है। अवतार काल में कितने दर्शन कर न पहचाने—द्वेष करते, विमुख रहते और फिर २ मरते, जीते। कर्म की बेड़ो में बंधते अन्त तक रहे।'

'वह तो राजकुमार थे'—तुलसीदास जी, हनुमान जी, से प्रभु के दर्शन होने पर बोले—कृपा कर श्री हनुमान जी ने बताया, यह चन्दन

जो लगा रहे हैं, 'यही तेरे स्वामी हैं'—तुलसीदास जी दर्शन करते मूर्छित हो गये—दिव्य प्रकाश कैसे सह सकते। 'पहचान से ज्ञान हुआ—मोह नष्ट हुआ और अमर होगये'।

बिना गुरू ज्ञान के कितने लोग देव देवी के दर्शन पा तथा चमत्कार सिद्धि देख रीझ जाते हैं—समझने लगते हैं, दर्शन होगये—कभी ध्यान नहीं देते—दर्शन बाद मोह लेश मात्र नहीं रहता—वह भाग्यवान् भक्ति में सदा चूर रहता है। रोम २ से, प्रकाशवान चेहरे से ,उसके सब ही अंगों को देख पता लग जाता है कि यह साक्षात्कार कर चुका है।

इसलिये बेटी! खोजे जा—विरहिनी को खोजे जा। ठीक है, 'जो मुक्ति दे सके वह ब्रह्मज्ञानी ही गुरू बनने व ज्ञान उपदेश करने का अधिकारी है'—हर एक समाधि लगाने, योग सिद्ध दिखलाने वाला चमत्कारी गुरू नहीं हो सकता—जो सदा आत्मा में संतुष्ट, स्थित है—वह ही ज्ञान दीपक बाल सकता है—सत्यगुरू है।

ज्ञान का पंथ भक्ति से न्यारा है—भक्त गुरू की महा कठिन पहचान है—अंत तक वह विरह में जलता देख कितनों को भ्रम होता है और पूछ बैठते हैं; 'स्वामी पा, विरह क्यों? अभी स्वामी इन्हें नहीं मिला'—पर यह सदा ठीक नहीं—चैतन्य महाप्रभु, मीराबाई, तुकाराम के जीवन को देख लो—विरह को परम धाम जाते समय तक न त्यागा—पर सब ही मानते हैं, वह पूर्ण सद्गुरू थे।

बेटी! गुरू की महिमा तू नहीं जानती—भक्त वैष्णव गुरु तो सदा दास कहलाने में सुख मानता है, लम्बी दण्डवत करने, उच्छिष्ट प्रसादी भक्तों की पाने व चरणामृत पान करने में—भक्ति

का रहस्य है 'अनन्यता' और उसका साधन है 'दीनता'—अपने जीवन में उसे बरत कर वह उपदेश करता है—'दीनता से ही अनन्यता आती है—उसी से कृष्णमय जगत दीखता है।' महा कठिन है, गुरू की पहचान ?

केवल एक मात्र रास्ता है—पुकारे जा—वे कभी तुझे फिर तेरी गुरूदेव से मिला देंगे। हां केवल वे ही मिला सकते हैं—और की सामर्थ्य नहीं—सो पुकारे जा, वही पुकार—तेरी गुरू जो सदा पुकारती है—

दर्शन दो श्याम—बस एक बार—बस एक बार—

(२)

जीव सदा ही स्वभाव अनुकूल बरतता है—उसके अनुसार उसका ध्येय बनाता है, साधन करता है, विघ्न हटा सफलता प्राप्त करता है।

'मनो नाश,वासना क्षय, तत्व ज्ञान'—यह है ज्ञान का पंथ—सदा विचार से नित्य, अनित्य अलग करते चलना। शरीर बुद्धि की जगह निरंतर विचार से आत्म बुद्धि स्थापन करते चलना—"मैं ब्रह्म हूं—मेरे सिवा दूसरा ब्रह्म नहीं"—इस भाव को दृढ़ करते चलना—द्वंद रूपी विघ्न—काम, क्रोध, मान, अपमान, शीत, उष्ण सब ही में सम रहना—एक आत्मा में स्थित हों, सब ओर रज, तम, सत्व गुणों का खेल देख—अलग रहना—कर्म में न बंधना—अनेक जन्म बाद सिद्धि प्राप्त करना—मुक्त हो विचरना—हां 'मैं ब्रह्म हूँ—सब ब्रह्म हीं है—फिर कैसा दीन होना...क्यों सिर झुकाना—विशेषकर यह भाव मुक्त होने से पहले ही आ जाता है। और ब्रह्म

ज्ञानी को ऐसा गिराता है, कि योगीराज जन्मों तक नहीं उठ पाते। पर यदि अंत तक दृढ़ रह सफलता प्राप्त कर, अपना लक्ष्य—आत्म-स्थित-मुक्ति प्राप्ति करते हैं—वे गुरू हैं—ज्ञान दे मोह नष्ट कर-आत्म दर्शन करा मुक्त करते हैं। ऐसे समर्थ बहुत दुर्लभ हैं।

और दूसरी ओर है 'विरहिनी'—साक्षात् दीनता मूर्तिमान, क्या पक्षी, क्या वृक्ष सब ही को तो पग पग पर दण्डवत प्रणाम करती चलती है—न वह जानती मुक्ति क्या है, न उसको उसकी इच्छा है-न उसे ब्रह्म बनना है। केवल उसने इतना जान लिया—'ठाकुर नन्द-किशोर हमारे ठकुरानी वृषभानु लली हैं'—उसने जान लिया, उसकी आत्मा का भी कोई स्वामी है—वह जान गई है—'दासोऽहं' सदा उसकी आत्मा पुकारती है—जीव ब्रह्म नहीं हो सकता—कृष्ण, कृष्ण ही है-भूल है, जो कहे 'मैं राधा हूँ-मैं कृष्ण हूं'-मेरे स्वामी-स्वामिनी! ऐसे अल्प बुद्धियों को तुम क्षमा करो। शरीरी तो केवल एक मेरा स्वामी है, सब आत्मा उसके शरीर हैं-जैसे इस आत्मा के यह कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीर हैं। भक्त जानता है, आत्मा में मुक्ति है-पर उससे परे भी कुछ है—वह है मुक्ति दाता परमात्मा, उसे वह चाहता है—मुक्ति-दाता ऐसे मुक्ति, मुक्ति का तिरस्कार करने वाले भक्त को कंठ लगाता है—तभी तो मुक्ति उसके चरणों पर लोटती है और वह उसकी ओर देखता तक नहीं—चाहना फिर कैसे संभव है—जिस चीज की वह कद्र नहीं करता, क्या वह अपने आश्रित शरणागत को देगा—नहीं उससे उत्तम—उसको जो परम प्रिय वस्तु है वह देता है—भला क्या—प्यारे की पुकार—'श्याम! दर्शन दो बस एक बार, बस एक बार!—

पुकार ही सार है—नाम व नामी में भेद नहीं। नाम देना ही श्री राधा कृष्ण देना है—ज्यों ही वह शरणागत करता है, मंत्र अर्थात्

नाम देता है—'और स्वामी सामने आ उपस्थित होते हैं। ऐसा होता है वैष्णव गुरू। ऐसी थी विरहिनी।'

'अवश्य थी! ऐसी ही थी! मेरी गुरुदेव—' गोपिका ने जी की बात खत्म होते ही कहा—और लगी करने विलाप—'अब कैसे पाऊं'—प्यारे गुरूदेव! कहा पाऊं—स्वामी जी! दया कर युक्ति बताओ।'

क्या भूल गई—फिर बताता हूं—सुन, पुकारे जा उसकी प्रिय पुकार—

'दर्शन दो श्याम बस एक बार—बस एक बार—'

(३)

वैष्णव गुरू का प्रत्यक्ष चिन्ह है, 'भगवान् पर तुल जाना'—मनसा, वाचा, कर्मणा, सर्व भावों से उनकी पूर्ण शरण जाना। पूर्ण निश्चय उसको होगया होता। अनेक जन्म तो माया को समर्पण किये—यह अब स्वामी का है—उसका शरीर हूं, उसकी आत्मा निरंतर पुकारने लगी थी। कैसी मूढ़ता कि अब तक मैं स्वतन्त्र मानता था, अपनी आत्मा को; और शरीर बुद्धि उस पर आरोपण कर अपनी हड्डी चूस अपना चतन्य लुटा सुख मानता था—मैं स्वामी की भोग्य वस्तु हूं—मेरे सब कर्म सर्वदा उनके निमित्त, उनको प्रसन्नता के लिए हैं—उनकी दासी हूं, सो सेवा मेरा स्वभाव है—आज तक वह न करना ही महान चोरी थी—आज मुझे अपना स्वरूप मालूम हुआ—'दासोऽहं'—। और निरंतर, निष्काम, अनन्य कृष्ण चिंतन में लग जाती हैं। किसी का आश्रय किसी वस्तु के लिए नहीं खोजती—'बने

तो राम से, बिगड़े तो राम से'…'यह है तुल जाना।

हथेली पर जान रख प्रेम में कूद जाना—निरंतर ही कूदने पर तत्पर रहना–प्यारे के लिये मान, अपमान, ताने, मार सब सहना पर मांथे पर शिकन न लाना—यह है तुल जाना।

सब सुख पर लात मारना…बाल अवस्था में सुंदर उच्च कुल की बालिका हो, भिखारिनी बन प्यारे की खोज में निकल जाना-विरह को ही निरंतर अपनाना लोक, लज्जा किसी की परवाह न करना -एकांत में रहना, मौन रहना, एक झोंपड़ी में रहना, व्याकुल रहना, अधीर रहना, सदा ही इंतजार में रहना, जब भी स्वामी आ जायें-यह था 'विरहिनी का जीवन'—संसार से विमुख निरंतर प्यारे में रहना, सदैव उसके ध्यान में रहना। ऐसी थीं मेरी गुरुदेव! पर हाय मैं उन्हें न पहचान सकी—करती क्या, प्रारब्ध यही था—भटक था—भटकना बदा था—वृन्दावन छोड़ना था—द्वारिका नगरी में आना था—गुरुदेव की पहचान यहां पाना था—श्रद्धा का चश्मा यहां मिलना था—ज्ञान का अञ्जन लगा गुरुदेव को यहां पहचानना था—इसलिए यहां आना था—उसकी नगरी में आना था—

(४)

तो वह कब मिलेगी—मेरी गुरुदेव—स्वामी तुम न मिलोगे तो वह कैसे मिलेगी—प्यारे! अपनी प्यारी का पता तुम्हारे सिवाय कौन बताएगा—क्या करूं—स्वामी! दया मय दया करो।

'पुकारे जा' वही पुकार जो तू जन्मते के साथ लाई है—वही पुकार, जिसको पुकार रोती तुझे पा कोई दौड़ आती थी—कौ

लगाती थी—दूध पिलाती थी—हृदय से चिपटाती थी—हां पुकार, वही पुकार, बालपने की पुकार—'मुझे याद है, खूब याद है—मेरे हितैषी ! तूने ठीक स्मरण दिलाया—अवश्य पुकारूंगी; वही पुकार बार बार मां—मां—मां—आ ...... ओ........हे श्री रा.... . धे...!

३–बस इतना कह देना–'तेरी विरहिनी.....'

प्रिय बहन !

मेरी कहानी—

मैं आ गई सुनाने अपनी कहानी—तुम थक गई—सो गई—कहानी लम्बी थी—लम्बी है—क्या न सुनोगी—मेरी कहानी।

अंधियारे में आगई—सुनाने—अपनी कहानी ! करती क्या; प्यारे बिना सदा ही तो मेरे जीवन में अंधियारा है। लम्बी है !

हां—लम्बी है—मेरी कहानी—विरहिनी का जीवन जैसा लंबा—वैसी ही है—यह—उसकी लंबी—कहानी।

सुन सको—तो सुन लो—बस एक बार कहूँगी—हां एक बार—अपनी कहानी·········

और फिर········ ···

पार पहुंच गई होगी······दीवानी······खत्म हो गई होगी·········उसकी लंबी कहानी।

(१)

तुम मिलते हो—जब मिलते हो, खूब मिलते हो—यही सुन के मैं आई थी—सुनने आई थी—सुनाने आई थी—बहुत दूर से मैं आई थी।

तुम मिलते हो—घन बन मोर से मिलते हो—चंद्र बन चकोरी से—जल बन मीन से—यह सुन मैं आई थी—बहुत दूर से मैं आई थी—ओ सांवरे रसिया ! तुमसे मिलने आई थी।

तुम मिलते हो—दुखिया को कण्ठ लगाते हो—आँसू पोंछते हो—गोद में बिठाते हो—प्यार करते हो—अबलाओं को—जिनका और सहारा नहीं, हां उनको प्यार करते हो—ऐसा सुन मैं आई थी—सदा से प्यार की भूखी मैं आई थी—तुमसे मिलने आई थी—बहुत दूर से आई थी—ओ प्यारे ! तेरी खोज में आई थी—बड़ी आशायें लेकर आई थी।

थकी, माँदी, भूखी, प्यासी—मैं आई थी—पहाड़ों में भटकती, नदियां पार करती मैं आई थी—रातों जगती आई थी—'श्याम आओ—प्यारे ! दर्शन दो-बस एक बार—बस एक बार—' पुकारती मैं आई थी। हां बहुत दूर से मैं आई थी—मन्दिर में पुजारी से पूछती आई थी—मस्जिद में मुल्ला को तुझको पुकारता देख आई थी—बड़ी अभिलाषायें ले मैं आई थी—तुझ से मिलने मैं आई थी—बहुत दूर से मैं आई थी—ओ मेरे मन मन्दिर के वासी ! फिर अपने मन मन्दिर के खाली सिंहासन पर तुझे बिठलाने आई थी—मैं आई थी—तेरी द्वारका नगरी में आई थी—सब ही प्रेमियों का पूज्य

श्रीधाम छोड़ कर मैं आई थी—सुनते हो—सुनाने आई थी—क्या न सुनोगे श्याम! मेरी करुण कहानी—बस एक बार—हां बस एक बार।

(२)

जीवन, जीवन नहीं जिसमें तेरी आग नहीं—हृदय, हृदय नहीं जिसमें तेरा प्रेम नहीं—कंठ, कंठ नहीं जिसमें तेरी पुकार नहीं—वही श्याम! दर्शन दो—बस एक बार बस एक बार!

मोर पर बनी, वह आंख आंख नहीं—न हो लगी जिसमें तेरे दीदार की इंतज़ार—कान, कैसे कहूं वह कान हैं, जो सुनें कुछ और—हां केवल उसके सिवा कुछ और—वही विरहिनी की पुकार—श्याम! आओ—बस एक बार—बस एक बार।

(३)

जीवन की तरणी मैं खेने लगी—बिन पतवार—और लगी ढूँढ़ने हां—इन आँखों से—उस पार—मूक बन लगी पूछने—'बता दो! कोई मेरा सांवला यार।

(४)

यमुना थी—मैं थी—गइयां थी—रंभाती थीं—पुकार रही थीं—घटा थी—मोर थे—नाच रहे थे—चन्द्र था—चकोरी थी—मंडराती थी—सब ही तो सामिग्री थी—हां आह थी—तड़प थी—कसक थी—आंसू थे—आरती का समय था—शाम थी—पर...... हाय......क्या करूं लेकर यह सब सामान—क्या करूं यदि आन उपस्थित हुई शाम—बिन श्याम—हां—बिन श्याम।

पुजारी ! यह कैसी भूल—क्यों यह घंटा व घड़ियाल—क्या नहीं जानता—मुंह क्या ताकता है—मूढ़ ! बता—हां बता—यह क्यों—सब क्यों-हां बता किधर 'श्याम'—राधे जू के 'श्याम'—मेरे श्याम, प्यारे श्याम।

हे श्री राधे—

(५)

नदी है—बहा करे—हमें क्या—प्रेम की बात किस को याद रहती है— ? फिर क्यों तू बहती है ! बिन सुने बंसी ध्वनि—यह लहर लेना कैसा—बिन 'उनकी जल विहार लीला' यह तरंग कैसी- ! मुझे नहीं सुहाती—रुक जा—ओ मैया ! रुक जा, इस विरहिनी का संग दे…!

कोयल ! यह 'कूक' कैसी मैं जान गई ! पुकार रही है, वियोगिन तू मेरे प्यारे को—पुकारे जा—बलि बलि जाऊं।

पपीहे ! सुन्दर "पी-पी" की पुकार किये जा-तेरी मधुर वाणी में कैसी तड़प, कैसा विरह इसमें-हां पुकारे जा बार बार—यह मुझे जीवन प्रदायिनी पुकारः 'पी कहां—पी कहां'—

(६)

राधे बन आओ श्याम ! मैं वारी।

श्याम, बन आओ ! हे श्री राधे—मैं आरती उतारूं। ब्रजाङ्गनाओ ! आओ—हां इस समुद्र तट पर नहीं इस बन में रास रचाओ—प्यारी—प्रियतम को रिझाओ। मैं बलि जाऊं।

राधे को छोड़—क्यों आने लगे श्याम—रस न भंग हो जायेगा—!

प्यारे को छोड़—क्यों आने लगीं मेरी मैया—उनसे कैसे वियोग सहा जायेगा। रास का सामान—प्रिया प्रियतम की सेवा—कैसे त्याग आओगी ओ गोपी जन!

न आओ—हां न आओ—जल जाने दो—इस अभागी विरहिनी को अपनी वियोग की अग्नि में धधक २ जल जाने दो—अकेली हां अकेली ""...

'पी—पी'—मैं अकेली नहीं—तू भी है—पपीहे! ठीक ही है—जब मैं जल बल राख हो जाऊं—मेरी भस्म में आ लोटना—अपना विरह बुझाना—न बुझे तो उड़ कर जाना—वहां—हां बड़ी दूर—उस पार—और कहना उनसे—'तेरी.....'जब वे पूछें—यह भस्म कैसा! इस राख में इतना तेज क्यों—तब कहना—जब वे कहें तू मूक क्यों?—तब कहना—रुकते रुकते कहना—वह सह न सकेंगे—तब कहना—ओ मेरे वियोग के संगी! जब वे बार बार पूछें—व्याकुल हो पूछें—अधीर हो पूछें—बस इतना कहना—'तेरी विरहिनी......'

(७)

श्याम! तुम न सह सके—यह मूर्च्छा कैसी—तुम्हें यह क्या हो गया—तुम से न सुनी गई—हां अपनी विरहिनी की कहानी ""... प्यारे! क्या न जानते थे—वह विलम्ब न सह सकेगी देर न करती थी—अब क्या होता है—क्या न जानते थे विरही का—हां तुम्हारे विरही का यही अन्त होता है।

प्रेमी की परीक्षा कबतक—तुमको सुनने का शौक़ था—इसी लिये उससे लम्बी कहानी कहलवाई थी। हां उसी को याद कर-रोओ...

नहीं नहीं प्यारे! यह मैं क्या कह गई—तुम क्यों रोओ--तुम्हारी बला रोये--रोयें हम जो तुम्हारे वियोग में जल रहे हैं।

नहीं नहीं प्यारे! यह मेरी मृत्यु मेरे शरीर की मृत्यु होगी—मेरी नहीं—मैं तो सदा ही तुम्हारा ध्यान ले जीऊंगी—कर्म की चादर ओढ़ जहां भी जा पडूँ—इन्द्रपुरी या यमपुरी—तुम्हारा ध्यान है—तो सब ही समान है।

प्यारे-तुम बिन जीवन नीरस है--तभी मृत्यु को अपनाया चाहती हूँ—पर नहीं आती—विरह तो योगाग्नि प्रकट कर भस्म हुआ चाहती हूँ—शीतल आंसू बहा-यह नेत्र उसे शांत कर देते हैं—मेरे मित्र संगी बन मुझ से ही वैर करते हैं—नहीं नहीं—यह वैर नहीं—मुझे उपदेश करते हैं—कहते हैं 'प्यारे की मरजी के विरुद्ध यह कैसी अरजी!'—सहे जा—सहे जा—पर ....

(८)

'हम बेकार हैं या बाकार—कर्म है या सन्यास—यह हमारा जीवन—?' तुम्हारा प्रश्न—क्या जवाब दूं—! उससे पूछो—उस कदम्ब के नीचे, त्रिभंगी अदा में, अधर पर वंशी लगाये, खड़े हुए श्याम से—उसकी गली की दीवानी से क्या पूछते हो, 'बेकार हो या बाकार'।

योग किसको कहते हैं और सन्यास क्या? हम जानें—हमने तो एक ही पाठ पढ़ा है—वियोग का—पढ़ रहे हैं-पढ़ेंगे-यही हमारा जप, तप, साधन है।

'प्यारे का विरह पा' क्या और उपदेश को हममें जगह रह जाती है–जो रोम रोम पुकारे 'श्याम'–तो तुम ही बताओ वह किस स्वाध्याय, पाठ में झलक सकता है।

तुम कहे जाओ साधन बिना प्यारा नहीं मिलता–हम बलहीन, साधनहीन, जो साधन ही न कर सकें–तब क्या और रखा है करने को· केवल इंतजार और पुकारने को वह पुकार–

श्याम ! क्या न आओगे—प्यारे बस एक बार–हां एक बार !

(६)

इस पार–या उस पार-'चल खोजें'–व्यर्थ प्रश्न से क्या लाभ-भटकने का नाम ही जीवन है–सब जगह चल भटकें-तन, मन ,वाणी सबसे भटकें-हां इस पार भटकें-और उस पार–प्यारे की खोज में भटकें-देवताओं के स्वर्ग, उनके भोगों की ओर दृष्टि न डाल भटकें-देवियों की शक्तियों को तुच्छ मान भटकें–एक नहीं–अनेक जन्म भटकें–इस पार भटकें–उस पार भटकें-जहां भी भटकें कर्म वश, स्वर्गों या पातालों में, इन १४ भुवनों में भटकें। सदा तेरी 'याद' तेरा 'ध्यान ले भटकें—विधाता की रची भूल भूलय्यों में जहां भी भटकें—केवल एक मात्र तेरी चाह ले भटकें।

'तू है, मिलता है, मिला है'—क्या विश्वास–यह आस ले भटकें—निर्भय भटकें—क्या परवाह यदि अंत तक भटकें—पर हे स्वामी ! जहां भी भटकें—दिन में भटकें, रात में भटकें, चांदनी में भटकें, अंधियारी में भटकें—बस अपने आँसुओं की माला पोते भटकें—हां जाप करते भटकें-निरंतर—वही जाप–वही विरहिनी की पुकार ले भटकें— दर्शन दो श्याम-बस एक बार· हां एक बार—

(१०)

शाम आगई—श्याम न आया—सङ्ग सखा आ गए-श्याम न आया-हाय ! सब कुछ आगया—श्याम न आया—तो क्या आया, जो श्याम न आया—कुछ न आया—हाय प्यारा न आया—हाय श्याम न आया—मेरे चकोर नयनों का चन्द्र न आया—सब कुछ फिर आया भी तो क्या आया—!

तो क्या न आओगे श्याम ! विलम्ब कर आओगे तो क्या पाओगे-हमारे फिर किस काम आओगे—तजे जब प्राण—तो क्या पाओगे—हां पाओगे—अवश्य पाओगे—पहाड़ों, वृक्षों से टकराती हुई आती हमारी व्यथित आत्मा की पुकार—'क्या न आओगे श्याम !

बस एक बार—हां एक बार।'

४-वही मरने की बात—....

प्रिय बहन !

अभी सवेरा भी न हुआ था—और आ जगाया—'कहानी सुना !'

मैं बेकार—इसीलिए देर तक सोती—रोजगार ढूंढ़ा, न मिला—मेरे मन का न मिला—कहती थी, 'रोना दो'—मिल जाए—यह कर्म—तो मैं कौशलता दिखाऊं—कर्मयोगी कहलाऊँ—!

हां दिन रात राऊं—कहानी सुना सुना रोऊं—पर यह 'रोना'—प्रियतम ! तेरी याद में रोना—व्याकुल हो रोना—दर्शन के लिए रोना—अधीर हो रोना—!

कब मिलेगा—

यदि तुम प्रार्थना करो—
'मेरी तरह इसको भी रोना दे'—

(१)

न आना है—न आओ—जाना है—चले आओ—'ख़ाके इश्शाक़ से दामन को बचाते चले जाओ'—मैले हो जाओगे मेरी परछाईं पड़ने से—चन्द्रमा की ज्योति में स्नान करने वाले, पीताम्बर का छोर न छू जाये—जाओ उसे बचा कर चलने वाले, जाओ—जहाँ जाना चाहो जाओ—ब्रज में जाना हो जाओ—इन्द्र, ब्रह्मा का मान हरने जाना हो, जाओ—अर्जुन को राज्य देना हो, जाओ-कुरुक्षेत्र में जाना हो, जाओ—राज्य सुख भोगना हो जाओ-अवश्य मथुरा में जाओ—!...

पर यह क्या—जाते समय यह मुंह फेर कर देखना कैसा—लेते जाओ, हां सब अपनी स्मृति लेते जाओ—इन पद चिन्हों को मिटाते जाओ—हां मेरे हृदय पटल पर विरह से अंकित 'अपने नाम की रेखा' मिटाते जाओ—बिना कुछ निशान छोड़े जाओ—कुछ भी मैं ले न जी सकूँ—सब ही दान दी सामग्री समेट लेते जाओ—अवश्य जाओ—दूर—जाओ—बहुत दूर जाओ—सब प्रेम की जंजीरों को तोड़े जाओ—इन कानों ने तुम्हारी नूपुर ध्वनि सुनी है—द्वारिकाधीश! इन्हें दण्ड देते जाओ—यह आंखें तुम्हारे इन्तज़ार में बहीं हैं—इन्हें फोड़ते जाओ—यह पलकें तुम्हारी प्रतीक्षा में झपकी नहीं हैं—इन्हें नोचते जाओ—यह प्राण तुम्हारे वियोग में फड़फड़ाये हैं—इन्हें कुचलते जाओ—यह जिह्वा पुकारी है, 'हे कृष्ण'......इसे काटे ..... जाओ—इस अभागिनी विरहिनी को भटकते .... छोड़े जाओ.... !

(२)

निडर जाओ—निर्भय जाओ—ईश्वरों के ईश्वर! तुम्हें दण्ड ही कौन दे सकता है—जो चाहो करो—पामाल करते जाओ—बर-

बाद करते जाओ—इस बस्ती को बन बनाते जाओ—इस घर को उजाड़े जाओ—हां जाओ—उस पार जाओ—बहुत दूर जाओ—तुम जाओ—मैं भी देखूं तुम कैसे जाते हो—उस पार—हां एक बार-बस एक बार—

(३)

तुम से बिछुड़ के मैं भी चली हूँ। 'योग' की यात्रा समाप्त कर 'वियोग' की 'यात्रा' प्रारम्भ करने चली हूँ—कौन बताये कहां! केवल इतना ही जानती हूं—मैं चली हूं।

एक दिन मेरा लक्ष्य था 'प्यारे का दर्शन'। एक सङ्गी था, 'उनकी चाह'। एक पथ प्रदर्शक था, 'उनका विरह'। बड़ा सामान साथ था—उनकी याद थी, तड़प थी, कसक थी—बन से बस्ती की ओर तब मैं चली थी—बड़ी आशायें ले मैं चली थी—तब भी मैं चली थी"""

वैसे ही मैं आज भी चली—केवल मात्र भेद रख चली—बिना लक्ष्य चली—बिना संगी चली—बिना पथ प्रदर्शक चली—सब ही सामान पटक कर चली—हलकी होकर चली—पहाड़ों से सिर टकराती चली—कांटों को तलुओं का खून पिलाती चली—बस्ती उजाड़ती मैं चली—हां भटकती चली—कहां चली—किधर चली—क्या जानूँ कहाँ चली—सूने मन्दिर में सूना सिंहासन छोड़ मैं चली—करती भी क्या—रहती कैसे—तबाह मैं चली-बरबाद मैं चली—सब ही त्याग मैं चली—पर इसको मैं कैसे छोडूँ-अब केवल इस पुकार से बंधी मैं चली—सब ओर से स्वतन्त्र अपने को समझी थी, पर

इसकी कैदी बन मैं चली—उस पार मैं चली—मैं क्या जानूँ, क्यों चली; कहां चली—सब ही छोड़ मैं चली—पर क्या करूं-यह तो चिपट ही रही है—सङ्ग नहीं छोड़ती—मैं चली-अकेली चली—पर पुकारती चली—करती भी क्या—परवश हो पुकारती चली वही विरहिनी की पुकार—

'श्याम दर्शन दो—बस एक बार—हां एक बार'—।

(४)

तुम क्यों उदास हो गये—तुम को छोड़ जा ही कहां सकती हूँ—ओ मेरे हृदय वासी! जा ही कैसे सकती हूं—क्या प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं देखते तुम्हारे ध्यान को ले जाती हूँ—तुम्हारे विरह को अपना जीती हूं—सदा ही जीती हूं—मैं विचित्र वियोगिनी; तुमको न पा जीती हूँ—और भी तो कारण है, जिस से जीती हूँ—तुम पूछते क्या?—मौत नहीं आती, जीती हूं—उसका द्वार खटखटा फिर आती हूं—वह नहीं आती, सो जीती हूं—मर नहीं सकती, सो जीती हूं—हाय! तुम पर मर नहीं सकती—।

वे कैसे भाग्यवान् हैं। जो तुम पर मरते हैं—जीवन न्योछावर करते हैं—और एक हम नहीं मरती हैं—नहीं नहीं इन मरने वालों के भावों पर मरती हैं—तभी तो हम रसिका कहलाती हैं—हम ऐसे कितने रसिक वृन्दावन में हैं—जो बात २ पर मरते हैं—हर ही तुम्हारी अदा पर मरते हैं—तुम्हारी अलकावली पर मरते हैं—तुम्हारी टेढ़ी भृकुटि पर मरते हैं—मधुर मुसकान पर मरते हैं—हम इन मरने वालों की हर अदा पर मरते हैं—कैसे भोले यह रसिक हैं!

तुम्हारी त्रिभंगी अदा पर मरते हैं--बांकी चाल पर मरते हैं--निदान कहां तक गिनाऊं--अदा अदा पर मरते हैं--और एक हम इन मरने वालों पर मरती हैं--बड़े रसिक हैं वृन्दावन वाले।

तुम्हारी काली कमरिया पर मरते हैं—टेढ़ी लकुटिया पर मरते हैं—बांस की बंसुरिया पर मरते हैं—और कहूँ—बात बढ़ती जारही है, पर कहे बिना रहा भी नहीं जाता—इशारा सा ही कहती हूँ—तुम्हारी जसुदा डुकरिया पर मरते हैं—और क्या ? रसिक, वे रसिक क्या, पशु, वृक्ष, लता सब ही मरते हैं—हां किस पर ?—उस पर, जिसपर श्याम ? तुम जीवन न्योछावर करते हो—यह सब, हम सब ही मरते हैं—राधे पियरिया—पर मरते हैं।

(२)

'मरने की बात' रसिक शिरमौर ! तुम्हें न सुहाई। जीवन की बात कहां से लाऊँ—फिर दोनों में अन्तर हो तो कहूँ। तुम्हारा सा रसिक मिला सो दिल खोल डाला—नहीं, और होता, तो सत्य न छिपा केवल इतना ही कह देती—'ओ मरने वालो। हम तुम्हारे मरने पर मरते हैं।'

मौत के आगे क्या ? जीवन। जीवन के आगे क्या ? मौत। यह तो हुआ संसारी मौत का नियम— काल चक्र मरना व जीना—इससे लोग अवश्य डरते हैं—जीना चाहते हैं, पर मरते हैं।

पर प्यारे ! तेरी हर एक अदा से मारे—मरते लोग कहते, पर जीते हैं। सदा जीते हैं। जीते, जीते हैं—मरते जीते हैं—और हो क्यों न ऐसा—अमर जीवन तू—फिर क्या आश्चर्य जो तुझ पर मरते जीते हैं—सर्व समर्थ तू—फिर क्या आश्चर्य जो कि तुझ पर तेरे

चाहने वाले मरते हैं—माधुर्य हां अनुपम माधुर्य तू—फिर क्या आश्चर्य जो तेरे प्यारे तुझ पर मरते हैं—ऐश्वर्य सम्पन्न, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अन्तरयामी—सब का स्वामी तू—वासुदेव—सब की कामना पूर्ण करने वाला तू—तभी तो लोग भिन्न २ भाव ले मरते हैं—हां तुझ पर मरते हैं।

कायर हैं तो एक हम—कि इन विरहिनी गुरुदेव को पा, बार बार बात २ पर मरते देख—कहते हैं, हम मरते हैं, इन मरने वालों पर मरते हैं—पर कहां मरते हैं—ढोंग करते हैं—नहीं मरते हैं'—गोपिका कुछ ध्यान आते मौन हो गई।

(६)

कहां हो मेरी गुरुदेव! मुझे विसरा कहां चली गई—मेरी गुरुदेव! तुम बिन कैसे जीऊं—प्यारी मिलो—मैं मरती हूं—तुम पर मरती हूँ—तुम्हारी बात बात पर मरती हूँ-स्मरण आते, तुम्हारी याद पर मरती हूँ—क्या न बचाओगी ओ दया की सागर! करुणा की भंडार! मां क्या न बचाओगी—मैं मरती हूं।

प्यारा मुझको न मिला—प्यारे की प्यारी—विरहिनी मेरी गुरुदेव न मिली—इसीलिये मैं मरती हूं—अकेली, निराश मैं, अब न सहारा पा मरती हूं—खोज निष्फल हुई—खोजती खोजती मैं मरती हूं—हां उसकी खोज खोज कर मैं बल हारी मरती हूं"..............

(७)

मेरे स्वामी! तुम्हें कोई न समझ पाया— न समझ पायेगा—भले ब्रह्म बन संतोष मान बैठें, पर अंश न समझ पाया, अंशी को-

वह कैसे समझ पायेगा—तुमको—क्या अनेक ब्रह्माण्ड केवल एक तुम्हारे अंश के अतिरिक्त कुछ और है—फिर भी जीव ब्रह्म बने, दीनता त्यागे, खुद पूजा त्याग, अपने को पुजवाये—कृष्ण बना फिरे-यह तीन हाथ का जीव एक ठोकर लगे, तो लुढ़कईयां खा जाये—एक स्वांस रुके तो पुरखे याद आजायें—एक वक्त मुफ्त का खाना 'नारायण—नारायण' पुकार न पाये तो क्रोध से आग बबूला हो जाये—बेचारे दीन गृहस्थ को क्या क्या शाप न दे जाये—मानों तमोगुण का अधिष्ठाता बन ताण्डव का भाव दिखाने की चेष्टा करता है—यदि वह जान पाता मेरे स्वामी, सब देवताओं को शक्ति प्रदान करने वाले तुम हो—अपनी माया की चाक पर चढ़ा, कठपुतली बना नचाने वाले तुम हो—और जाने तो कैसे—'क्या उसके दिमाग में घुस सकता है, कि एक ब्रह्मर्षि के चरण प्रहार खाकर कोई समर्थ चुप बैठ सकता है—जाने तो तब, जब तुम जनाओ—और तुम क्यों जनाने लगे, जब तक वह तुम्हारे भक्तों की चरण रज न सिर पर धारण करे। तुम्हारी विरहिनी की कृपा कटाक्ष के लिए बन बन न डोले'—'मेरे स्वामी ! दीन बनना, दीनता की महिमा दिखलाना, दीनता का उपदेश करना ही तुम्हें सुहाता है, भाता है... ..'

मैं जान गई, क्यों मेरी गुरुदेव मुझे नहीं मिलतीं—अभिमान का अंकुर ले मैं उनको खोजती हूं। 'मैं, मैं' पुकारती तुमसे मिला चाहती हूं—। कुफ्र केवल इतना ही है—यह 'मैं'-'तू' के साथ जोड़ना—मंसूर ने केवल 'हक' है—' अर्थात् 'सत्त भाव ही है'—न कह कहना शुरू किया 'अनलहक़'—अर्थात्' मैं सत्त हूँ'-परिणाम क्या हुआ—लोक में जो गति हुई प्रत्यक्ष है-सूली पर चढ़ा-दो हाथ कफन न

मिला—कुछ मिलने की बात तो दूर—और परलोक में वह 'सत्-स्वरूप' बन किस लोक में विचरा, उसकी तो उसका 'सत्-स्वरूप' जाने—ब्रह्म बनने वालों का लोक—परलोक में क्या होना है ? चारों ओर तो बन रहे हैं—लोक में उनकी गति प्रत्यक्ष है—आगे प्रभु 'कृपा कर'—यह भी तो तेरे ही दास हैं—भूले हैं।

(८)

मेरे स्वामी तुम कैसे करुणा के सागर हो—बालपने से ही मैं अनुभव कर रही हूं—तुम मेरे साथ हो—मेरी दुस्तर संसारी कामना क्या, दुर्लभ असंसारी वाञ्छा पूरी कर तुमने मुझे अपने हाथ मेरे सिर पर होने की अनेक बार सूचना दी—पर फिर भी जाने क्यों नहीं विश्वास आता—कि तुम इतने निकट हो।

पर आये तो कैसे—कब से पुकार रही हूं—'प्यारे श्याम ! दर्शन दो-एक बार-बस एक बार'—तुम कहते हो, 'दर्शन तो दिये, अनेक बार—बाहर भी दिये; और अंतर बैठ कितनी बार न संदेहों को निवारण किया—'।

होगा—जैसे कहते हो; होगा—पर मेरा संदेह तो अभी बना है—'केवल तुम में ही' एक अटूट श्रद्धा अभी न हुई—मोह न गया—तर्क करना न गया—अभिसूया न गई—तुम्हारे दर्शन बाद यह क्यों ?—

प्यारे ! मुझे इन दर्शनों से संतोष नहीं—यह भी कोई दर्शन है, स्वप्न से आए, स्वप्न में आये यह भी कोई दर्शन है, ध्यान में परछांई से आये चले गए—यह भी कोई दर्शन है, कोई भेष

धारण कर बिना पहचान दिये आये, चले गए। दर्शन दो श्याम! एक बार—पर ऐसे कि फिर दर्शन का सवाल ही न रहे—वह दर्शन सार्थक है; जबकि पल भर भी तुम आंखों की ओट में न हो—सदा सङ्ग हो—अंतर में बाहर में—स्वामी! कुछ और न दीखे—दीखो तो केवल एक तुम—वृत्त में, पशु में, आकाश में, पृथ्वी पर, सब दिशाओं में तुम ही तुम दीखो—हाथ बढ़ाओ प्यारे और ऐसा मेरा हाथ पकड़ो फिर न छूटे।

क्या पतित उद्धारक श्याम! ऐसा मेरा उद्धार करना स्वीकार है, तो अवश्य करो-प्यारे मुझे दर्शन दो—बस एक बार बस एक बार—

वह क्षण ही मेरे जीवन की अवधि हो—न कम न ज्यादा-जब तक तुम हो—सामने व अंतर में सहारे हो, तब तक मैं हूं—जब तुम छिपा चाहो, तो यह जीवन न हो—यह नहीं कि तुम्हारा वियोग न सह न्योछावर हो-नहीं नहीं—कहने का आशय तुम्हारे मिलन पर प्राण पखेरू चरणों पर सदा के लिये उपहार हो—तो क्या स्वामी! तुमने सुन ली मेरी अरजी-वही पुरानी पुकार-मेरे जीवन की पुकार-

स्वामी! आ मिलो, बस एक बार'

५-'प्यारे ! तेरी याद आई'

प्रिय बहन !

विरहिनी का जीवन विचित्र है।

उसका स्मरण आया, और सांवरे की याद आई। उसकी आंख भरी देखी, और प्यारे की चितवन याद आई। उसको ध्यानावस्थ खड़े देखा, और कदम्ब तले खड़े बंसी वारे की याद आई......

क्या कहूं, कैसी पहेली है। वह कौन, हां प्यारे की कौन है—कि जब भी विरहिनी, प्रत्यक्ष आई, स्मृति बन आई—जैसे भी आई—और उस रसिया की याद आई—तुम ही देखो ......

(१)

अभी उसकी याद आई ।

श्याम तेरी याद आई

शाम को आई–सवेरे को आई–रात को आई–दिन में आई–

कन्हैया तेरी याद आई ।

पानी बरसते/में भीगते से बचाने, कम्बली बन तेरी याद आई–तपते घाम में शीतल वायु बन तेरी याद आई–जाड़े में ज्वाला की चिंगारी बन, मेरी ठंड मिटाने तेरी याद आई–

प्यारे ! तेरी याद आई ।

पहाड़ों में भटकते, सुन्दर वृत्तों से फल बरसाते, तेरी याद आई–कांटों में भरमते, पुष्प बिछाते तेरी याद आई–नदी में डूबती मेरी नय्या को, पतवार बन संभारती तेरी याद आई ।

मोहन ! तेरी याद आई ।

इसी कारण मेरी मौत मेरे निकट न आई–जब आई, तो मेरी मौत की मौत आई ।

मनोहर ! तेरी याद आई ।

किस किस अदा से तेरी याद आई–मैं सदके— ! जब आई–तृष्णा बुझाती तेरी याद आई–जब आई जीवन प्रदान करती तेरी याद आई–हां खूब आई, तेरी याद आई ।

कृष्ण ! तेरी याद आई ।

वन में आई--बस्ती में आई--बंसी वट पर आई--यमुना तट

पर आई— !

कैसी प्रतिपालक—सर्वत्र आई–निरंतर आई तेरी याद आई--

(२)

चलते चलते मुझे याद आई–रोते रोते मुझे याद आई--हंसते हंसते मुझे याद आई ।

कभी रोमांच बन आई--तो कभी शिथिल करती आई न जाना किधर से आई--न जान सकी कब आई,-जाना, तो केवल इतना ही,

तेरी याद आई ।

(३)

कहने में सुलभ—बरतने में कितनी कठिन—हां अंत तक यदि यह याद एक 'तुम्हारी' आती रहे--तुमने ही तो उसकी महिमा गाई है–"निरंतर स्मरण कर, अंत मति सो गति'- मेरी आखिरी पुकार होगी--'दर्शन दो श्याम ! बस एक बार'--हां यदि कहता मेरा अंतिम श्वास निकलेगा--तब तो अवश्य तुम मुझे अपनी गोद में सदा के लिए लोगे मेरी संसार की यात्रा समाप्त होगी । कैसा सुन्दर मेरा स्वप्न, मुझे स्वामी मिल जायेंगे ।

पर प्यारे ! कैसे हो—जो तेरा स्मरण अंतकाल में हो—तुम्हारा संकेत मुझे पता चल गया–अवश्य अंत तक मैं खोज जारी रखूँगी–अपने गुरुदेव, अपनी विरहिनी को खोजूंगी—इनका ध्यान न क्षण भर

को बिसराऊंगी— मेरे गुरुदेव और तुम्हारे ध्यान में अंतर नहीं—क्योंकि मेरे गुरूदेव कैसे हैं—जैसा उनका नाम है, वैसा ही उनका यथार्थ स्वरूप है—कृष्ण-विरह व कृष्ण एक हैं—दो नहीं, मेरी विरहिनी सदा ही तुम में है—तुम उसमें हो—'वह है'—मैं नहीं जानती—तुम ही हो—विरहिनी बन तुम ही स्वामी ! अपनी खोज आप कर रहे हो—ऐसा न हों, तो मिलन ही न हो—विरह और मिलन एक ही के तो दो स्वरूप हैं। वास्तव में एक ही है—विरहिनी व कृष्ण में भेद नहीं। कृष्ण ही कृष्ण हैं— वह ही गुरू का रूप धारण कर भटकते, खोज करते, मुझ से कराते हैं—खुद देव हो, पुजारी बनते हैं—बनाते हैं— यही नहीं—स्वयं पूजा की सामिग्री बनते हैं—केवल कृष्ण हैं—और नहीं—फिर विरहिनी कौन—मेरी गुरुदेव कौन ?

हाय ! अपने गुरू में ईश्वर बुद्धि न रख पाई—सो स्वामी ! आज तक तुमको खोजती रही—न पा सकी।

(४)

'श्रद्धा से वे प्राप्त हैं'—बिना श्रद्धा सच्ची पुकार नहीं निकलती—मेरी गुरुदेव ! तभी तुमने मुझे उपदेश किया था—पुकारे जा—अनन्य हो पुकारे जा—सर्वत्र पुकारे जा—निरंतर पुकारे जा—वही पुकार—'दर्शन दो श्याम ! बस एक बार—हां एक बार।

(५)

सर्व व्यापक भगवान् हैं—सब जगह भगवान् हैं—यही दिखाने को बाराह वह बन चुके— मीन वे बन चुके—इसी को बताने को खंभ, हां जड़ से वे प्रकट हो चुके।

श्रद्धा हो तो पत्थर से वे प्रकट हों—वैष्णव अर्चा अवतार में पूर्ण विश्वास रख क्या नहीं करते—नामदेव ने दूध पिलाया—मीरा ने उनमें लीन होने का सुख पाया—और गिरधर नागर ने कितनी बार भक्तों को प्रत्यक्ष दर्शन दे, श्रद्धा का प्रभाव न जनाया।

श्रद्धा है सार—जब भी हो जाये—पत्थर में हो या व्यक्ति में—शास्त्र में हो—गुरु में हो—संत में हो—किसी में हो—पर अनन्य हो—निष्काम हो और अंत तक रहे—इन सब का विरोधी है काम—वह असत्त भाव, श्रद्धा ऐसे सत्त भाव का सदा ही आच्छादित करने पर तत्पर रहता है—सब ही संग व आसक्ति से बच—श्रद्धा पैदा कर और कल्याण है।

श्रद्धा होते ही जब 'सब भाव' से जीव शरण जाता है—अनन्य, निष्काम होता है—और फिर क्या असंभव है—जब उससे वे मेरे स्वामी ही प्रकट हो जाते हैं।

श्रद्धा ही सार है—प्रेम से निरन्तर पुकारे जा। वह पुकार ही श्रद्धा पैदा कर देगी—स्वामी से मिला देगी—जीवन यात्रा समाप्त हो जायेगी—परदेस छुट जायेगा—तू घर पहुंच जायेगी।

इसलिये निरन्तर निर्भय हो एकांत में, सबके बीच में, सोते में, जागते में, खाते में, पीते में, सर्वत्र पुकारे जा, वही विरहिनी माता की पुकार—

'दर्शन दो श्याम—एक बार—बस एक बार।'

(६)

श्रद्धा ही से ध्यान होतो है—और ध्यान से ही अंत काल में स्मरण होता है—मैं जान चुकी हूं—वृन्दावन में यमुना तट पर एक बालक के जीवन में देख चुकी हूँ—हां इस नुसखे को बरतते उसे देख चुकी हूँ—अंत तक कृष्ण नाम जपते देख चुकी हूं—अनन्य होते देख चुकी हूं—दृढ़ रहते देख चुकी हूं—सुख सामिग्री क्या—भोजन त्याग केवल जल पर रहते देख चुकी हूँ—और अंत में ७१ दिन उपवास करते, 'कृष्ण दर्शन दो'—पुकारते २ मरते—नहीं नहीं प्राकृतिक शरीर त्याग दिव्य स्वरूप प्रभु प्रकृति के स्वामी, मायापति के ध्यान में जाते देख चुकी हूँ—यह श्रद्धा, यह दृढ़ता यह अनन्य ध्यान ही निश्चय अंतकाल स्मरण की निश्चित युक्ति है—और हैं—उनको जीव स्वभाव अनुसार बरत सफलता प्राप्त करता है। बड़ा असर रखती है, अंत की यह पुकार—'हे श्याम दर्शन दो—एक बार बस एक बार'।

श्रद्धा कैसे हो ? भगवान का ध्यान कैसे हो ? प्यारे की याद कैसे हो ? वैराग्य आये तो तो हो—अभ्यास करो, तो हो—इधर से टूटे, तो उधर जुड़े+इधर आसक्ति न रहे तो प्यारे में आसक्ति हो—गृहस्थी होने में डर नहीं—प्यारी को प्यारा वहां मिलता है—नहीं मिलता तो 'गृह—आसक्ति' हो तो नहीं मिलता।

+रब दा की पौंणा—इत्थों पुटना उत्थे लौंणा।—अर्थात् भगवान का मिलना—इधर तोड़ना उधर जोड़ना—।

गुरु बुल्लेशाह घास भूमि से एक जगह उखाड़ दूसरी में लगाते बोले थे।

मुझसे नहीं होती—प्यारे की याद नहीं होती—कब होती—होती तो दिन रात होती—कैसे कहूँ होती जब किसी समय होती-होती तो अहर्निश होती—सर्वत्र सब दशा में होती—पतिव्रता की सी याद होती—'नागर का चित्त गागर में'—होती तो ऐसी होती-फिर कैसे कहूँ श्याम तुम्हारी याद करती हूँ—तुम्हारी याद करती तो और कुछ कैसे कर पाता —

होती तो जाहिर होती—संगियों के संग

होती—तड़प होती-कसक होती—आह होती—आंसुओं की नदी होती-तभी तो कहती, कहां होती-प्यारे तुम्हारी याद मुझसे नहीं होती।

अगर होती तो केवल दिखावे की याद होती—यदि सोणीं की मेवाल + के लिये जैसी याद थी, वैसी होती, प्यारे से मिलने जाती, मीठे चावल की हांडी ले जाती, जंगल के रास्ते जाती, नमाज़ पढ़ते मौलवी के ठोकर लग जाती—कुछ उसको खबर न होती—फ़क़ीर की नमाज़ छुट जाती—खुदा की याद चली जाती—पर वाह री सोणी! तू प्यारे के ध्यान में ऐसी मस्त कि किसी के ठोकर लगी, मुझे याद भी न आवी—। याद होती तो सोणीं की सी होती—जो परली पार प्यारे से मिलने, कच्चा घड़ा पकड़ पार होती—याद होती तो ऐसी होती।

कितनी सुलभ और महा दुर्लभ है, निरंतर प्यारे की ऐसी याद! कहां होती? किसे होती? होती तो कभी होती—किसी बड़भागी को होती—कैसी

+ पंजाब के

होती—न फिर उसे कुछ चाह होती—आस होती तो प्यारे की—निराशा होती तो प्यारे से न मिलने—कहना यही है, जो कुछ बनती बिगड़ती, होतीं न होती—तो प्यारे से।

प्यारे में निरंतर जीवन—यही उपाय, यही उपेय—यही साधक-यही साधन—यही साध्य—सब ओर वही—हां सर्वत्र वही—निरंतर वही।

हो तो ऐसी—हां सदा ही ऐसी—तेरी याद।

(८)

जो याद है, तो दिल शाद है।

फिर कुछ न करना है, न धरना है—सदा ही प्रियतम साथ है-प्यारे ऐसी तेरी याद है।

महा तप, महा जप, यह तेरी याद है—जहां तू है, वहां तेरी याद है—जहां तेरी याद है, वहां तू है। इसीलिये लब बंद हैं—खामोशी है—हां कभी भी नहीं फरयाद है—कैसी दुर्लभ ऐसी तेरी याद है। महान, अति महान, यह तेरी याद है।

६-वस्तु न चाहिए-बता दो वस्तु लेनेहार !

प्रिय बहन !

संकोच की चादर मैंने नोच डाली—और अपराध से न डरी। निर्भय हो मैं पुकार बैठी—एकान्त में पुकार बैठी—संसार के सामने पुकार बैठी—भरदे मेरी झोली—दे डाल अपने आप को ! निराश न कर—

दर पै प्रेम भिखारिनी आई।

(१)

देवाधिदेव सदा एक ही है—उन वासुदेव श्रीकृष्ण से परे तत्व नहीं—उसको ही सब ईश्वरों का ईश्वर जान।

भले भूल करें, पर भजते सब उसे ही हैं। क्या महादेव बाबा, क्या चतुर्मुख, क्या इन्द्र, क्या वरुण !

स्वार्थ के लिये भजते हैं। कामना पूर्ति के लिये भजते हैं—डगमगाते सिंहासन को स्थिर करने के लिये भजते हैं—दैत्यों के डर से भयभीत हो 'त्राहिमाम्' पुकार, विष्णु भगवान की चौखट पर आ उन्हें भजते हैं—राक्षसों से हार मान, उन्हें परास्त करने को मेरे भगवान् को भजते हैं—यह सकामी देवता अपनी कामना पूर्ति को उन्हें भजते हैं।

और अल्प बुद्धि, वे उपासक, जो उन मेरे स्वामी स्वमिनी को छोड़, कामना से प्रेरे इन सकामी देवताओं को भजते हैं।

बेटी ! ऐसे कितने भक्त कहलाते हैं—योगी कहलाते हैं—मूढ़ पंडित कहलाते—अविवेकी, अल्प बुद्धि, जो स्वामी को छोड़, उन विष्णु के इस सेवकों को भजते हैं।

कोई इस उपाधि से बच गया, और लगा केवल मेरे स्वामी को भजने, तो उस उदार को माया ने पहनाया आर्त; अर्थार्थी, जिज्ञासु का जामा—तभी कितने भक्त मेरे स्वामी को सकाम भाव ले भजते हैं—

ऐसे भजने वालों में कोई बिरला है जो प्यारे को प्यारे के सुख के लिए भजता है—ऐसे बिरले भक्त का ही कन्हैया माखन चुराता है—और व्रज बनिताओं से नाम धराता है—'माखन चोर मुरारी राधेश्याम'।

(२)

तेरे दर्शन का सुख कोई जान पाता—तेरे स्पर्श का अनुभव उसको स्पर्श कर सकता—तो क्या वह मुक्ति मांगता—ठुकराता—उसे ठुकराता—निर्भय हो कहता—'वस्तु न चाहिये हमको—हां मुक्ति न चाहिये। चाहिये तो मुक्ति दाता—जगत का भर्ता—श्री कृष्ण, अबला अनन्य शरणागतों का आधार।'

ऐसों को ही वह अपने आप को देता है—सदा ही देता है—पता नहीं लगता है—जब ही आतुर हो भक्त पुकारता है, 'प्राणनाथ' वह आ उपस्थित होता है—पर दुर्भाग्य उसके कि भक्त उस समय नहीं जान पाता—कितने काल बीतने पर उसके आगमन का अनुभव करता है।

वे मिलते हैं—सदा मिलते हैं—क्षण क्षण में मिलते हैं—जहां भी हो सच्ची पुकार, वहीं वह आन मिलते हैं—जैसे भक्त उनको भजते वैसे ही मिलते हैं। निष्काम, अनन्य भक्त को सर्वत्र निरंतर वे मिलते हैं—अंधियारे में दीपक बन मिलते हैं—ब्रज में ब्रजचन्द्र बन मिलते हैं—द्वारका में द्वारकाधीश हो मिलते हैं—वे भाव से रीझने वाले—अर्जुन के सखा बन मिलते हैं—जसोदा मैया से बालक बन मिलते हैं—और ब्रजबनिताओं से तो कंठ लगा मिलते हैं—जीवन को निछावर कर मिलते हैं—कांताओं से मिलते हैं—सखाओं से मिलते हैं—दासों से मिलते हैं।

ब्राह्मणों का चरणोदक लेते मिलते हैं—धर्मराज के यज्ञ में उच्छिष्ट पत्तल उठाते मिलते हैं—छाती पर अपने भक्त का चरण प्रहार खा, उनका चरण सराहते मिलते हैं—हां सदा सदा से प्रभु अपने भक्तों से मिलते हैं।

मर्यादा पुरुषोत्तम अवतीर्ण हो—मर्यादा उल्लंघन कर-जङ्गल में शबरी के जूठे बेर खाते मिलते हैं—निकृष्ट पक्षी जटायु को गोद में उठा पिता तुल्य श्राद्ध करते मिलते हैं—राजाओं को उनके चरण दबाते महलों में मिलते हैं—किस आन से, किस बान से मिलते हैं—मेरे स्वामी सदा ही मिलते हैं।

और 'आज 'विरहिनी' को इस वन में दूध पिलाते मिलते हैं—।'

'स्वामी जी! क्या कहा? फिर तो कहो—क्या मेरी गुरुदेव को मेरे स्वामी मिलते हैं?' गोपिका स्वामी जी की बात काट पूछ बैठी।

हां मिलते हैं—नित्य ही इस बड़भागिनी को मिलते हैं—'विरहिनी की अनन्य, निष्काम, एकान्त पुकार में यही महान शक्ति है—सो ही कहती जा—प्रेम से कहती जा—अनन्य हो कहती जा—कहती जा—

'दर्शन दो श्याम—एक बार—बस एक बार'। और विश्वास रख वे मिलते हैं—और विरहिनी को तो नित्य ही मिलते हैं।

(३)

मेरी गुरुदेव! तुमको मेरे स्वामी सदा मिलते हैं। क्षमा करोगी मेरी विमुखता, मैं बलि जाऊं! भूल सकोगी मेरा अपराध, न पहचान

सकी तुमको। न जान सकी मां! तुमको वे मिलते हैं—नित्य ही मिलते हैं।

प्यारे! कितनी कठिन है, तेरी प्यारी की पहचान। यदि संत कृपा से प्राप्त हो जाये, तो दुस्तर माया सागर में भटकती मेरी नय्या पार हो जाये।

(४)

'मोहन बिन क्या जीना'—श्याम—आओ श्याम—आओ श्याम—मेरे जीवन श्याम—!

जित देखूं तित श्याम—इत श्याम–मेरे प्यारे श्याम—!

अपनी विरहिनी को दरस दिखाओ श्याम! चहुं ओर श्याम—!

इत श्याम–उत श्याम–मेरे श्याम–प्यारे श्याम—कैसे श्याम-सुन्दर श्याम।

कित श्याम ?

इत श्याम–उत श्याम–श्याम ! श्याम !! श्याम !!!

कहां गये श्याम—प्राणाधार श्याम—मेरे श्याम—केवल मेरे श्याम !

आओ श्याम—दर्शन दो श्याम—बस एक बार—बस एक ······ ··(विरहिनी मूर्च्छित हो गिर पड़ी।)

(५)

पहचान ली—मैंने पहचान ली—यह पुकार—मेरे गुरुदेव! तुम्हारी निरंतर की पुकार—

'श्याम ! दर्शन दो श्याम—बस एक बार—बस एक······'

रुको मैं आई ।

(६)

क्या स्वप्न था—नहीं तो विरहिनी कहां—पुकार तो सुनी–हां इस वृक्ष तले से आई–पर गुरुदेव मैं सेवा में आती हूँ–पर तुम्हें नहीं पाती हूँ—क्या पुकार बन, पुकारती फिरती हो ?

मेरी पहेली—कौन सुलझावे—तुम बिन ! श्याम दर्शन दो—बस एक बार—हां एक बार !

(७)

जीवन यात्रा कठिन होती है—होगी । पर विरहिनी का जीवन, तो जीवन को धारण करना कठिन हो गया—माया रचित इंद्रियां कैसे सह सकतीं प्यारे के नाम की पुकार—तिमिर के यन्त्रों से क्या प्रकाश थामा जा सकता है ।

संत का शरीर क्या संत को धारण कर सकता है—नहीं, कदापि नहीं—अप्राकृतिक प्रभु के वियोग की अग्नि, माया की चादर कब तक संभाल सकती है । परोपकारी संत इसी कारण दिव्य शरीर धारण कर आते हैं—कबीर, नानक, मीरा, चैतन्य महा प्रभु, तुकाराम अंत तक विरह में जले—और साथ ही अपनी दिव्य चादर ले गये—कहां शरीर छोड़ा ।

'श्याम दर्शन दो—बस एक बार—बस एक बार ।' मैं क्या

सोचती थी—मेरी गुरुदेव! क्या तुम इस दुखिया, भोली, भूली गोपिका को जीवन प्रदान करने को, उपकार निमित्त परम पद का परम सुख त्याग इस बन में विचर रही हो।

तब तो मैं अवश्य तुमको पा लूंगी—हां एक दिन अवश्य!

(८)

निराश तो वह हो, जिसका मन बिखरा हो—चारों ओर लगन लगी हो—मैं क्यों निराश हूं—निराश तो वह हो जिसकी किसी संसारी वस्तु, व्यक्ति में आसक्ति हो— मैं क्यों निराश हूं। पर हां निराश हूँ—स्वामी! अवश्य निराश हूँ।

मेरी निराशा— ? तू नहीं मिलता—तू नहीं मिलता।

मेरी आशा— ? तू है—तू मिला है—बड़भागियों को मिला है—विरहिनी को मिला है।

तो क्या मुझको न मिलोगे स्वामी! मारा था, तो पूरा काम तमाम करना था—यह तड़पा तड़पा—बिलखा बिलखा—भटका भटका, मारना कैसा!

यदि चाह संग लगाई थी—तो अब तक यह मुंह फेरना कैसा—कुछ और चाह होती—तो इधर मांगती—उधर मांगती—सब जगह मांगती—मैं भिखारिनी सब से मांगती।

पर "तुम" को किससे मांगूं—यदि 'अपने आपको' दे सकते हो, तो केवल तुम!

तो प्यारे! विलम्ब क्यों—क्या भूल गये, वह तीन मुट्ठी तंदुल

की बात—तेरा हाथ न रोकते, तो क्या त्रैलोक्य न दे डालता—शंका करने वालों ने कहा, 'जो अब रावण शरण आगया, तो प्रभु, विभीषण को लंकेश बना चुके, उसे क्या दोगे ?'—क्या तुम न बोल उठे थे, 'अयोध्या का राज्य।'

ऐसे दानी—ऐसे देने वाले—तो क्यों नहीं दे डालते इस आपके सामने आंचल पसारे बैठी भिखारिनी को !

क्यों नहीं दे डालते अपने आपको—हां बस एक बार—बस एकबार।

(८)

कहानी सुनना तुम्हें भाता है—कहानी बनना नहीं। लीला करना तुमको सुहाता है—लीला बनना नहीं। ओ तमाशाई ! एक बार तमाशा बन भी सुख ले। और भी तो देखें—तू कैसे दे डालता है—हां अपने आप को—कैसे भर देता है झोली अपनी भिखारिनी की। तेरा यश त्रैलोक्य में सदा ही गान होगा—प्यारे ! आगे के लिये प्रमाण होगा—बड़ा नाम होगा—

बस दे डाल—अपने को—बस एक बार—हां एक बार।

७-न मे भक्तः प्रणश्यति-!

प्रिय बहन !

एक मात्र श्रीकृष्ण हो जिसका जीवन हो — वह लिखे तो क्या— कहे तो क्या—सुने तो क्या—सुनाये तो क्या—वही, जो उसे प्रिय है— सुहाती है—श्री राधा को प्रिय है—श्रीकृष्ण की बात—इसके अति- रिक्त मेरे पास है ही क्या— ?

जो सुना, सुना दियो—जब तक अच्छा लगे सुने जाओ । यही याद रखना—बातों में उलझ न जाना—वे मुरली मनोहर बड़े रसिया हैं— जाने किधर से मधु वर्षा कर फंसालें—और पर छुड़ाना मुश्किल हो जाये ।

कुछ ऐसी ही बात है—यह कृष्ण की बात—सुने से चढ़ती है—कुछ ऐसी है कृष्ण की बात—तुम्हें अच्छी लगती है—सो सुनो— फिर प्यारे की प्यारी की कही बात—

कृष्ण की बात ।

(१)

तुम न आये—क्या हुआ जो तुम न आये··· ··· ··· न आये न······आ ···ए···

गोपियों ने पकड़ रखा होगा, न आये—सुदामा की सुदामापुरी बनानी होगी, न आये—द्रौपदी की विपद निवारण करनी होगी, न आये—गजेन्द्र को मोक्ष देना होगा, न आये—जटायु का श्राद्ध करना होगा, न आये।

भक्त वत्सल भगवान्! नाम संभारना था, न आये न आये।

(२)

आँधी आई—तुम न आये—तूफान आया—तुम न आये—वर्षा आई—तुम न आये—भवसागर में अघों से भरपूर मेरी नय्या डगमगाई—तुम न आये।

पतित पावन भगवान्! न आये, न आये।

(३)

और आते भी क्यों—अवकाश मिलता तो आते। अपने नाम को सदा संभारने वाले—लोक उपहास का भय था—साधन संपन्न भक्तों की पुकार न सुन, मुझ बलहीन पतित की सुनते तो क्या सब कहते!

न्यायकारी भगवान्! न आये न आये।

(४)

रसिकों का उत्सव—मधुर वाणी का गान—रस का प्रवाह—उस अमृत को छोड़—इस रस हीन के पास कैसे आते—!

ओ रसिक शिरमौर ! न आये, न आये ।

(५)

सुंदर सिंहासन—सुंदर भूषण—सुंदर भोग—और सुंदर आवाहन छोड़, इस बन में तिनकों पर लेटी—मट्टी के करवे में जल के सिवा संग्रह न रखने वाली वियोगिन के पास तुम कैसे आते-विरहिनी के पास तुम न आये ।

ओ सुन्दर श्याम ! न आये, न आये ।

(६)

मेरे पास देने को ही क्या था, जो तुम आते-हां थी एक जान-सो उसकी तुमने क़दर बता दी-दिखा दी—मृत्यु ने ठुकरा, उसकी क़दर बता दी······ यदि तुम न आते, तो मैं आती—पर फिर मैं कैसे आती—क्या उपहार ले आती—बिना उपहार कैसे पुजारिन कहलाती—बिना पुजारिन बनें ठाकुर ! मैं कैसे तुम्हारे मन्दिर में घुस पाती ।

तुम कहते भिक्षा कर लाती-क्या लाती-? और क्यों लाती ? भिक्षा करने मैं जाती-मर न जाती-तेरी दासी कहला, दूसरे देवता के सामने हाथ फैलाती—हाथ झुलस न जाता—तो तू बता-क्या लाती-कहां से लाती । न लाती, तो सावधान हो तो आती ।

अवश्य ही मैं सावधान होश से आती--यदि चित्तचोर! पहले से हीं तूने बुद्धि न हर ली होती--तो जल्दी आती!

हां जल्दी आती--अवश्य आती--यदि माया के दलदल में आज तक मायापति! तूने न फंसाई होती।

सङ्ग ले आती।

हां वैसे ही आती--यदि तू ही उनको भर न देता--'पगली है--डेले मार भगा दो--पास न आने दो--'! कह उन्हें विमुख न कर देता।

तो मेरी पुकार ले आती।

हां--स्वामी! अब वैसे ही आई हूँ--पुकारती आई हूँ-भिखारिनी बन हाथ पसारती आई हूँ--विरह से व्याकुल मैं, आंचल पसारती आई हूं।

क्या न दे डालोगे--अपने को--हां एक बार--बस एक बार।

(७)

यह है विरहिनी--कुल वाले इसका वैराग्य देख कहते थे, 'कुल कलंकिनी'--लोक वाले ढेले मार कहते थे 'हट पगली!'-इन्द्र इस बात पर अड़ा था, कि सदा ही वर्षा कर इसे तड़पाऊंगा--और वायु देवता इस बात पर तुले थे कि इसके वस्त्र के चिथड़े २ उड़ायेंगे--लक्ष्मी तो पहले ही आंचल की ओट कर अलग जा बैठी थीं--रही पृथ्वी मय्या--उसने भी कांटे बिछा दिये थे।

सब देवी-देवता क्यों न क्रोधित होते--अपमान कैसे सहते--'हमारी शरण छोड़, कृष्ण में अनन्य भाव क्यों'--कस-कस कर

बदला लेने की सबने ठानी। टुकड़े-टुकड़े को तरसायेंगे—रुलायेंगे—सतायेंगे—पर इसको चंगुल से न निकलने—जाने देंगे।

(८)

'न मे भक्तः प्रणश्यति'—

वह कहा करें!

'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'। वे भजा करें।

पर लोकपति तो हम हैं—चतुर्मुख भूल गये 'वत्स हरण' वाली बात, और प्रसन्न हो लगे दाढ़ी हिलाने।

कर्म की चादर ले जन्मी—उसे कहां फेंकेगी— ऋण चुका कर ही जाना पड़ेगा।

(९)

देवता, पितृ, सम्बन्धि सब ही के ऋण से मेरा भक्त, मेरा अनन्य भजन करने से मुक्त हो जाता है। सांवलिया सेठ ने मुनीम को इशारा किया, और उसने खोल दीं ऋद्धि सिद्धि की थैलियां। फिर क्या था, देवता, देवी सभी तो लपक पड़े—सूद दर सूद से अधिक पा, सब ही अपने लोकों को कहते सहर्ष पधार गये।

'तेरे भक्त को मुक्त किया सब ऋण से—सांवलिया सेठ, हां सदा के लिए।'

मर्यादा पुरुषोत्तम सब कर सकते थे—पर मर्यादा संभारी—और अपने भक्त को कर्म के ऋण से पार लगाया।

पण्डित जी की कथा—अनन्य भक्ति की महिमा सुन सभी तो अनन्य भक्तों की खोज में निकल पड़े—विरहिनी की खोज में—

द्वारका नगरी में हलचल मच गई—नई आई गोपिका ने भी कहीं सुन लिया।

तभी तो पता पा चल दी थी, वह गुरुदेव की खोज में—पुकारती वही गुरुदेव की पुकार—

'श्याम दर्शन दो—एक बार—बस एक बार।'

(१०)

'कैसा जीवन ?'

'ऐसा जीवन विरहिनी का'—अनन्य कृष्ण भक्तों का ऐसा ही जीवन होता है—उसका केवल कृष्ण होता है—उपाय, उपेय, अवलम्ब, साधन, ध्येय, आश्रय होतो है, तो केवल कृष्ण होता है।

ऐसी श्रद्धा, ऐसा अटूट भाव, अनेक जन्मों के निष्काम कर्मयोग, स्वधर्म पालन ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् इस जन्म में होता है।। यही पहचान है, 'जो तन—मन—धन, मनसा—वाचा-कर्मणा से—सर्वत्र निरंतर कृष्ण पर तुल गया'—उसका निश्चय यह आखिरी जीवन है। अबके जाने के बाद उसे आना नहीं है।

अब दिल टटोल देख लो, कितने गहरे पानी में हो।

(११)

सखी ! महा कठिन है श्याम सों प्रीति ! किये जा—बड़े भाग्य से मिलती है—मिलने पर, महान् परीक्षा होती है।

परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर'सांवरे सुन्दर श्याम की अमर गोद मिलती है। कृष्ण का विरह मिले तो जान लो आगे चल कर कृष्ण प्रीति मिलेगी। और इसी शरीर के रहते २ प्यारे की गोद मिलती है। और शरीर त्यागने पर तो अवश्य सांवरे की गोद मिलती है।

विश्वास करो—अवश्य कृष्ण-विरही को कृष्ण की गोद मिलती है—हां इसी जन्म में मिलती है। सकामता के जंगल को फूंके जाओ-विरही ! पुकारे जा—वही विरहिनी की अमर पुकार-'दर्शन दो श्याम'-और विश्वास रख तुझे अवश्य श्रीकृष्ण की गोद मिलेगी।

८—न उस पार, न इस पार ?

प्रिय बहन !

लगन तो वही, जो लग जाये—और अन्त तक न छूटे—यह भी कोई लगन है 'आज तो उथल पुथल भादों की नदी की तरह-और कल शांत क्या, मोह ग्रस्त।

कृष्ण प्रेमी को मोह स्पर्श करता ही नहीं—साक्षात्कार के पहले भी वह सकामता से भागता है। मोह से बचता है। वैराग्य युक्त, त्यागमय जीवन बिताता है।

पर यह लगन कैसे लगती है—सब ही तो कृपा के आधीन है—फिर भी—

'विरहिनी को लगी-लगन लगी'—यह जान कर ज़रा वही कहानी न सुनें—उससे ही न पूछें—कैसे लगी—प्यारे की लगन-हां

श्याम सुन्दर की लगन—'

(१)

तेरी लगन लगती है—जब लगती है—खूब लगती है। किस को लगती है—कैसे लगती है—क्यों लगती है—कहां लगती है। बालक को लगती है—वृद्ध को लगती है—बन में लगती है—गृहस्थ में लगती है—पुरुष को लगती है—स्त्री को लगती है—ब्रह्मचारी को लगती है—व्यभचारी को लगती है—भोगी को लगती है—रोगी को लगती है—दिन में लगती है—रात में लगती है—साधन के बल पर लगती है—बलहीन को लगती है—बुद्धिमान को लगती है—मूढ़ को लगती है—मनुष्य को लगती है—पशु को लगती है—

मुझको नियम कुछ नहीं मालूम कैसे लगती है—जानती हूँ तो केवल इतना कि तेरी लगन सर्वत्र लगती है—निरंतर लगती है—सब को लगती है। यदि किसी को लग सके।

(२)

लगी हो तो बताऊं, कैसे लगती है। विरहिनी को देखा, और अनुमान की चौखट फांद प्रमाण के मन्दिर में जा पहुंची—प्रत्यक्ष देख लिया, 'प्यारे! तेरी लगन लगती है।'

पूछने पर उत्तर मिला—"मौन"—हवा ने आश्वासन दिया, 'लगती है—'विश्वास हो गया—प्यारे की लगन लगती है।

कितनो ही भवन संभाल कर बनाओ—देख रेख रखो, लग सकती है, कितनों में आग लगी है—कितने ही बिजली रोकने के यंत्र लगाओ—बचाओ—पर बिजली उसको त्याग भवन के किसी और कौने में आ गिरती है। चौकीदार खड़े हों, ताले बंद हों, फाटक

मज़बूत हों, फिर भी चोरी, चोर बन, धन से आ लगती है।

कैसे कोई तब कहे, प्रभु की लगन कैसे लगती है—और पूछना भी व्यर्थ ही है—क्या इतना विरही को जीवन प्रदान करने को काफ़ी आशा की रेखा नहीं कि जान ले लगन लगती है—अवश्य लगती है—कितनों के लगी है।

फिर पुरानी बात। श्रद्धा हो तो लगती है—विश्वासी का संग हो तो लगती है—यदि विरहिनी का संग हो तो अवश्य लगती है।

'विरहिनी का संग मिल जाये तो अवश्य प्रभु में लगन लगती है।' सुन गोपिका का जी भर आया—।'मैं निर्धन, धनी होने चली-' कह गोपिका विरहिनी की खोज में चल दी।

(३)

लगन क्या है—विरह क्या है—चाह क्या है—यह सभी अनन्य भक्ति के अनेक नाम हैं, जिनके द्वारा कृष्ण प्रेम मिलता है।

पूर्व जन्मों के सुकृत एकत्रित किये हुये संस्कारी को बड़ी सुलभता से कृष्ण प्रेम मिलता है। अनेक जन्मों में कठोर साधन कर किसी २ को इस अंतिम जन्म में यह परम सिद्धि रूप प्रेम बड़ी सुलभता से मिलता है।

वैसे तो पूर्ण संत मिलना हरि कृपा व भाग्य जागने तथा समय आने के आधीन है—पर संत कृपा से जब भी मिलता है, कृष्ण प्रेम बड़ी सुलभता से मिलता है।

वैसे तो मर जाइये साधन करते २—घिसा डालिये अंगु-

लियां माला फेरते २—थक जाइये परिक्रमा लगाते लगाते—कृश हो जाइये तप करते करते, कृष्ण प्रेम नहीं मिलता—।

संग से ही रंग चढ़ता है—अनन्य भक्तों का संग महा दुर्लभ है—बेचारे गृहस्थ नाहक ही बदनाम हैं—गृहासक्त तो वह संग्रही बन में आश्रम बनाये वनवासी महात्मा हैं—कहीं कृष्ण प्रेम लंगोटी बांध अलख जगाते फिरने से मिलता है—मन में चाह भरी पड़ी और ऊपर स्वांग बनाने से कृष्ण प्रेम नहीं मिलता है।

सच्चे वैराग्य से कृष्ण प्रेम मिलता है। फिर चाहे गृहस्थ में रहो या बन में! केवल कृष्ण मिलन की एक मात्र चाह ले रहने से कृष्ण मिलता है—तब भी जब वह कृपा करे तब ही मिलता है। कृपा का नियम नहीं—नियम है, तो केवल यह—अनन्य भ..न से कृष्ण कृपा करते हैं—मिलते हैं।

गुरू बनने से वह नहीं मिलते—शिष्य बनने से वह नहीं मिलते—मठ बनाने, महंत बनने से वह नहीं मिलते—मान की इच्छा कर कीर्तन प्रचार करने को डोलने से वह नहीं मिलते—और मिलें भी क्यों—"मान मिले"—यह चाह कर पुण्य कर्म किये, सो मान मिल गया। आगे चल स्वर्ग मिल जावेगा—कृष्ण तो केवल अनन्य चाह ले, अंत तक दृढ़ रह, सब ओर से कछुये की तरह वासना सकोड़ बैठने से मिलते हैं।

स्त्री का मुख न देखेंगे—कंचन न छुयेंगे—पर जी चाहे वैसे ही उत्तम भोग करेंगे—खेल तमाशे में मन लगायेंगे—जी भर अपने को पुजवायेंगे—ऐसे पाखण्ड से कृष्ण नहीं मिलता है।

सच्ची आह से कृष्ण मिलता है—तीव्र विरह की पुकार से कृष्ण मिलता है—त्याग से कृष्ण मिलता है।

व्रत, तप, जप, पाठ, पूजा इनमें से किसी से भी कृष्ण नहीं मिलता है—स्वर्ग मिले—देवता मिलें—मुक्ति भी मिल जाये—पर कृष्ण—कृष्ण तो केवल प्यार से ही मिलता है।

इसीलिये कहती हूँ—प्यार किए जा—कृष्ण मिलता है—बच्चा बन जा, कृष्ण मिलता है—हां केवल मात्र कृष्ण को सर्वाधार रूपी माँ जानने से कृष्ण मिलता है—बालक की तरह कर्म के थपेड़ों से व्याकुल हो, केवल कृष्ण का ही आश्रय लेने से कृष्ण मिलता है—केवल शिशु की तरह एक कृष्ण के निरंतर अनन्य ध्यान से कृष्ण मिलता है।

बच्चे की तरह सब ओर से निराशा हो, कृष्ण रूपी माँ की गोद में ही सुख मानने से कृष्ण मिलता है—अबोध बालक सदृश्य कृष्ण रूपी मां को पुकारने से कृष्ण मिलता है। मिलने का परम रहस्य यही है—'वह मिलता है'—सो पुकारे जा कृष्ण तू मिलता है—तो क्यों नहीं मिलता कृष्ण आ—कृष्ण आ—कृष्ण······ आ······!

(४)

मेरे स्वामी! वैसे तो कर्म में तुम्हारी बिलकुल स्पृहा नहीं है—तुम किसी से फल लेना नहीं चाहते—पर भक्तों के सब ही कर्म तुमको प्रिय हैं—सुहाते हैं—उनका भजन करना—पाठ करना—कीर्तन करना—ध्यान करना—परस्पर तुम्हारी कथा करना—तुमको इतना भाता है, कि तुम कृपा कर उन्हें दर्शन दे देते हो। उनका भोग तुमको इतना प्रिय है, कि उस भाव में विभोर विदुरानी सी भक्ता के हाथ से केले के छिलके खा, उनको विदुर की गिरी से विशेष स्वादिष्ट बताते हो। सदना के बधने के जल के स्नान को, वेद पाठियों के

गङ्गाजल के स्नान से विशेष सराहते हो। जहां राजाओं व विद्वानों के बहुमूल्य भोगों से नहीं रीझते, शबरी के जूठे बेर खा उनकी प्रशंसा श्री जनक जी के यहां के भोगों से ज्यादा करते हो—भक्त का चढ़ाया फूल ऐसे आतुर हो प्रत्यक्ष हो लेते हो मानों नन्दन बन में भी वैसा न हो। सूंघना भूल उसे खा जाते हो।

बड़े रसिया हो श्याम!—भक्ति से किये ही कर्म, तुम्हारी कृपा प्राप्त करने का एक मात्र साधन है। राजसी व तामसी कर्मों की तो बात ही क्या—यज्ञ, तप, दान आदि सात्विक भगवत सम्बन्धी कर्म तक तुम को तब ही सुहाते हैं, जब वह निष्काम भगवद्-बुद्धि अर्थात् अनन्य भाव से केवल तुम्हारी प्रसन्नता निमित्त किये जाते हैं—अन्यथा तुम ऐसे कर्मयोगियों को किनारा काट स्वर्ग दे डालते हो।

पर अपने अनन्य भक्त के चुंगल से तुम जाओ तो कहां—वह तो सदा ही तुम्हारी प्रसन्नता को सामने रख वैसे ही कर्म करता है। फल सब तुम्हें अर्पण करता चलता है। गोपी माखन क्यों तय्यार करती हैं—केवल इसीलिये कि श्याम सुंदर उसे चुराने आयेंगे—इसी बहाने उनके दर्शन होंगे।

गोपी जन ने जना दिया—जो कर्म हो केवल एक बहाना हो हो कि श्याम सुंदर दर्श देने को खिंचे चले आयें।

तभी तो कहती थीं, मेरी गुरुदेव—पुकारे जा, सदा वही पुकार—'श्याम! दर्शन दो एक बार'—निरंतर उनका ध्यान हो—उनका भजन हो—उनका कीर्तन हो—उनकी कथा का श्रवण हो। इसके अति-रिक्त और कोई भी अभिलाषा न हो—'कि श्याम सुंदर दर्शन

है'—प्यारे ! यही तुम्हारा बताया—तुम्हारा प्रिय कर्म योग है—इसे कर तुम्हारा भक्त तर जाता है—तुम्हारी सन्निधि प्राप्त करता है।

सदा वही—एकांत में वही—खाते पीते वही—सब समय वही—एक—विरहिनी की पुकार—'श्याम ! दर्शन दो—बस एक बार !'—!

तुम्हारा ऐसा निरंतर ध्यान ही तुम्हारा अनन्य भजन है—यही तुम्हें भाता है—मेरे लिये यही स्वाभाविक है—मुझे प्यारे ! सुहाता है—सो करूंगी अब खोज—यहीं पुकार लेकर—'श्याम आओ—दर्शन दो—बस एक बार।

(५)

कैसे बादल—कैसी घटा—क्या तुम आये श्याम ! अवश्य तुम आये—नहीं तो पंख फैला क्यों नाचने लगे। चारों ओर पक्षी क्यों 'जय जय' पुकारने लगे—लतायें क्यों झुकने लगीं—बताओ ना ! क्यों मूक हो—बताओ, क्या तुम आगए श्याम !

श्याम ! घटा बन के आये मेरे श्याम !

यदि मैं मोर बन सकती तो नाच नाच तुम्हें रिझाती। यदि मैं चातक होती—स्वाति बूँद के लिये मुख फैलाती !

क्या तुम रीझते - क्या तुम मुस्करा अमृत बरसाते श्याम !

कैसी सुंदर घटा बन आये मेरे श्याम !

जित देखूं तित श्याम—विचित्र रंगों के पीताम्बर फैलाते श्याम ! अवश्य तुम ही हो—मैं पहचान गई श्याम !

न बताऊंगी—कैसे पहचान गई—पर पहचान गई। इसमें संदेह नहीं—मैंने देख ली—!

विद्युत बन छिपीं—तुम्हारे बीच मय्या राधे। अब कहाँ जाओगे–मैं जान गई—घटा बन आये मेरे श्याम !

(६)

श्याम ! तुम न थे—घटा थी—श्री राधे ! तुम न थीं—विद्युत थी। बड़े अरमान ले देखी थी—घटा देखी थी—विद्युत देखी थी। निराश हो मैं आन बैठी थी—न जाने अब क्या सोच यहां आ बैठी थी—अपने जीवन की नय्या डगमगाती देख, कुछ विचारती यहां आ बैठी थी—कोई आश्रय न पा आ बैठी थी–सहारा न देख आ बैठी थी।

मुझे पता नहीं क्या आशा ले आ बैठी थी—नहीं जानती क्यों तुम्हारी चौखट छेंक आ बैठी थी—विश्वास रखो, जान कर कष्ट देने नहीं आ बैठी थी—अनजाने अपराध हुआ—क्षमा करना—मैं आ बैठी थी।

उस पार तुम—इस पार मैं—कितना अंतर—आकाश से परे तुम—पाताल की अधिकारिणी मैं—फिर भी साहस कर आ बैठी

थी—कभी तो दर्शन दोगे महाराज! कभी तो रीझोगी महारानी!—मेरी आत्मा पुकारती पुकारती यहां आ बैठी थी—थकी थी—मांदी थी—और यात्रा लम्बी था—सांस लेने को आ बैठी थी—चारों ओर सुन्दर दृश्य, मनोहर पुष्प, यहां प्यारे अवश्य आये होंगे—कुछ विचार आ बैठी थी।

मैं अनाधिकारिणी—निराशा की घेरी—दुखिया, अबला, पतिता—बिना पूछे तुम्हारे दर पर भिखारिनी हो आ बैठी थी—दुःसाहस मानों, उठा दो—दया आये, प्यार करो—मंदिर जान दर्शन को आ बैठी थी—बस—'दर्शन दो श्याम! बस एक बार'—अपनी पुरानी पुकार संग ले—तुम्हारी विरहिनी बड़ी दूर से चल, तुम्हारे दरवाजे पर आ बैठी थी।

(७)

स्वामी! न मिलो—कुछ ज़ोर नहीं—न मिलीं गुरुदेव न पाया सहारा, दुःख नहीं—मेरे दर्द भरे जीवन सागर में गिर पड़ी इन आंखों से बह, एक रक्त की बूंद, कुछ परवाह नहीं।

मालूम था—कठिन है सखि! 'श्याम सों प्रीति'—पर न करती, तो करती क्या? जन्मातर से जो दर्द अपनाती आई, उसे छोड़ के जाती तो कहां? यह सिसकना, यह रोना, यह विरह—मेरा जीवन—इसे बिसरा जाऊँ तो कहां! कृतघ्न न कहलाऊँगी। इस पार रहूँ या उस पार जाऊं, पर कृतघ्न न कहलाऊं—यह सोच साथ ही इन्हें भी बांध लाई थी। और तुम्हारे दर पर आ आहों की अग्नि सुलगा आंसुओं की आहुति दे धूनी रमाई थी।

विचित्र मेरा यज्ञ—और तुम्हारे मंदिर के निकट- तो क्या न आओगे तुम?—

देख न जाओ—यह तमाशा—कैसा यज्ञ करती है, यह तुम्हारी विरहिनी—लीला तुम्हें भाती है, सो ही कर रही हूँ।

श्याम ! आओ—देख जाओ-बस एक बार- ! न जचे, हर्ज नहीं-कोई ज़ोर नहीं—जैसी मर्जी-प्रसन्नता पूर्वक फिर चले आना-हां उस पार।

मैं भी प्राण पखेरू दे सकूँगी-तुम्हारे चरणों पर-बना कर-'सुन्दर उपहार' !

कैसी अभिलाषा-जो तुम आ जाते एक बार। और न पूर्ण होती क्या परवाह-विरहिनीं की यह आशा तो अवश्य ही पूरी होती-वह चढ़ा सकती तुम्हारे चरणों पर जीवन का उपहार— !

(८)

संतों ने सत्य कहा है, 'सिर सांटे हरि मिलें तो भी सस्ता जान'— !

देख लिया—यत्न से तुम नहीं मिलते—साधन से नहीं मिलते— !

पर मिलते हो—इसमें संदेह नहीं—एक ही जीवन में मिलते हो, यदि कुछ पुकार सके—विरहिनीं की सी पुकार—बस एक बार—

श्याम ! दर्शन दो—बस एक बार !

तृतीय भाग

फिर, श्रीधाम– !

प्रिय बहन !

'विरहिनी—गोपिका'—की कहानी समाप्त हो गई। क्या थी—क्यों कही थी—समझ में न आई।

लेखनी मुंह ताकती शांत हो गई—कान श्रवण का रस लेते लेते अतृप्त रह गये। रही मैं—सो अपने उलझे जीवन की पहेली, कुछ संकेत पा सुलझाती रह गई। संकेत क्या था ? 'भटक मत—भटक कर ब्रज में ही आना है—गुरूदेव यहीं मिलने हैं—और हम—

"हैं"—'मिलते हैं'—'मिले हैं'— !

अनन्य श्रद्धा युक्त खोज से—खोजे जा और पुकारे जा—वही विरहिनी की पुकार—

'दर्शन दो श्याम—मेरे श्याम—हाँ एक बार'।

और विश्वास रख जब

हम व

गुरूदेव

भिखारिनी

तुझे मिल तेरी झोली भर देंगे—तेरा जीवन सफल हो जायेगा—कल्याण का दीपक बल उठेगा—तेरी यात्रा समाप्त होगी—उप समय की प्रतीक्षा में निराशा त्याग तू बैठ—तेरा कल्याण हो—बोल जय श्री राधा कृष्ण।

(१)

प्यारी जू ! मैं फिर आ गई—तुम्हारे धाम—श्रीधाम—श्रीधाम आगई मैं भ्रमण करके— ।

प्रारब्ध वश ही जीव भटकता है—दुख:, सुख भोगता—परवश हो सकता जहां तहां—प्रारब्ध कटा और फिर वह वहाँ का वहां ।

यह है सब का जीवन—महात्मा हो या दुरात्मा—सबको भोग भोगना ही पड़ता है । शुभाशुभ कर्मों का फल ।

जीवन बड़ी लम्बी यात्रा है—एक गोल चक्र है—योनियों की कड़ियों की बनी ज़ंजीर है—बड़ी दुस्तर है—कोई इसका पार न पा सका—बचा तो एक शरणागत ।

सुनो ना ! कल की बात—स्वामी जी चक्की चलती देख रो दिये—बड़ा आश्वसन दिया तब भी हिचकी बंधी ही रही-मैं पूछ बैठी, 'क्यों ? क्या हुआ ?' बोले; जीव की दशा पर रो दिया ।

'बचा तो वही दाना-केवल वही, जो कील की शरण गया—नहीं तो वही घड़ घड़ की आवाज चारों ओर—काल की चक्की की आवाज—जीवों की पुकार, हाय ...... !

स्वामी जी रोते रोते एक तरफ चल दिये—मैंने भी राह ली ।

(२)

बचा तो केवल वह— जो शरण गया ।

ओ सुख के सागर ! करुणा के भंडार ! ! फिर भी जीव तुमसे क्यों आंख चुराता— सामने नहीं आता—भजन नहीं करता—भोग,

गृह आसक्त रहता। यदि विश्वास करता, तो बेड़ा पार था—हां यदि पुकार सकता, दीन हो, आतुर हो, अनन्य हो, निष्काम हो—वह विरहिनी की पुकार-केवल एक बार—'स्वामी! दर्शन दो—बस एक बार!

(३)

संतों का जीवन है तो पुकार—विरही भक्तों का जीवन है, तो केवल यही पुकार—ब्रज के पशु—पक्षी जीव मात्र क्या, जड़ वर्ग का जीवन है तो केवल यही पुकार—

श्याम! दर्शन दो—बस एक बार।

सदा से पुकार रहे हैं—पुकारते हैं—पुकारेंगे—यही— केवल यही पुकार है—श्याम! दर्शन दो—बस एक बार!

यह ब्रजवासी—संत हो या गृहस्थ—स्त्री हो या पुरुष-बालक हो या वृद्ध—और साधन न जानते न जानना चाहते। न करते न करना चाहते—जानते तो केवल इतना-हां यही पुकारना—

श्याम! दर्शन दो—बस एक बार!

क्या गैया चराते ग्वाल बाल—क्या बच्चे खिलातीं, माखन निकालतीं, दही बिलोतीं, झाडू देतीं—जो भी गृह काज करतीं—पर सदा गोपी यही पुकारतीं—न और साधन जानना चाहती न जानतीं—केवल यही पुकारतीं—

श्याम! दर्शन दो—एक बार!

हंसती, रोतीं, शांत हो बैठतीं, जो भी करती होतीं—सुबह होती या शाम होती—सर्वत्र निरंतर यही उनके अधरों पर एक मात्र यही पुकार होती—

श्याम ! दर्शन दो—एक बार !

ब्रज में ही इसका पाठ सुलभ है—तभी तो फिर भटक भटका कर यहां आ पड़ीं हूँ—पहिले भी यहीं थी—हां विरहिनी के संग थी—कौन हम थीं—कहां हम थीं—कब थीं—याद नहीं—याद है, तो केवल इतना ही—पहले भी हम ब्रज में थीं—!

इस जन्म में भी ब्रज में मिलीं थीं—श्याम को यहां खोज खोज हार, उसकी खोज में बाहर गई थीं—कहां कहां न गईं थीं—द्वारिका गई थीं—प्रारब्ध काटने वहां गई थीं—'ब्रज में श्रद्धा दृढ़' करने बाहर गईं थीं—सस्ता मिल गया था ब्रजवास—क़दर न जान बाहर गईं थीं—भाग जागे-श्यामा जू कृपा भई-श्याम का इशारा पाया—ब्रज फिर पाया-जी ललचाया-धीरज आया-और शुरू हो गई-फिर एक बार—वही गुरूदेव की पुकार—

'श्यामा-श्याम ! दर्शन दो-बस एक बार-हां एक बार !

—उपसंहार—

ब्रज रस अपूर्व है–इन आंखों के पात्र बना, चुसकी ले, स्वाद लो। ब्रज रस, कृष्णमय है, राधा स्वरूप है।

विचित्र है यहां का श्रृंगार रस–माधुर्य का भंडार है। जहां विरह की ताप, वहीं मिलन की शीतलता की फुआर है। सब ओर जग मग आभूषण, सौंदर्य की भरमार है। ब्रज रस अपार है।

सब ही रस इसमें हैं। गोपी की छेड़, श्याम जू का पांव पलो-टन–तो राधा जू की "प्रीतम कहां" की पुकार है।

जहां सखाओं का चुटकी लेना, वहीं यशोदा मय्या का लला पर राई नोन उतारना, वात्सल्यता अपार है।

जिसने डुबकी ली, इस माधुर्य के सागर में-वह न उस पार ही पहुंचा, न इस ही पार है–ब्रज रस अपार है।

यह कहानी केवल 'विरह के एक कण का विस्तार है।

किसी गोपी के आंचल से छलक गई थी–वह बूँद न संभाल सकी—जलते वस्त्र न फेंक सकी —न जल कर ही शांत हो सकी–विर-हिनी अपनी बीती कह बैठी—!

जो सुनीं—तुम्हें सुनाई—अवश्य सुनाई—सुनना ही क्या था-कहानी छोटी थी–लम्बी थी— जो भी थी—हो-वास्तव में तो केवल इतनी ही थी–एक पुकार का विस्तार थी—और वह थी—

श्याम ! दर्शन दो–बस एक बार-बस एक बार।

Under the Patranage
of H.E.Dr.Kailash Nath
Katju M.A., LL.D.
Governor of West
Bengal.
The Radhika Library
and Publications Trust
Radha Bhawan
Brindaban.

Is established, which aims at disseminating the Gospete of Bhagwat Gita & the Bhagwatam and bring about better understanding between the followers of various religions of the world by publication of treatises on religion : establishing contact with living saints & Religious Ashrams & by providing library of standard works on religion to help study by religious scholars and geniune seekers of Truth.

Major General
A.N. Sharma
I. M. S.
Director of Medical
Services(Indian Army)
New Delhi
President,

OPINIONS ON VIRAHNI GOPIKA

Old prominant Member of the Theosophical Society, Benares, Rai Bahadur Pandya Baijnath B. A., P. C. S. (Retd.) at this age of 84 reading over again the book says—

'I have enjoyed it immensely in company with विरहिणी (spiritual zealot). As an aid to [illegible] intense yearning, heart-ache, discomfiture and distress for meeting the Lord, which feeling is the essence of para bhakti of Gopis, it is unique. I am aware of no other book on this subject so well written. I have read over even this time passages to bhaktas to explain salient features of bhakti. To read this book is to weep in remembrance of the Lord. The book is a great aid in acquiring विरह। I commend it to bhaktas inclined to acquire that boon.' (December 7, 1950).

Editor of Temple of Mysticsm writes—

'A human document—pulsating with the devotees' heart-throbs, uniqueness and experiences nay pangs wrested out of the core of the heart and under an irresistable impulse given out in burning words:

A heart bleeding with agony, pining for Lord Radha Krishna's separation, yea blazing at times in flames literally leaping:

Big strides in the Lover's journey. from Brindaban to Dwarka and back again to Braja by the pulin of Yamuna:

Great risk and mighty achievement: Dramatic moments in a spiritual zealot's life that inspire.

A fragrant boquet laid by Krishnaji at her Lord's Altar.